

**बहुजन
डाइवर्सिटी मिशन का
घोषणापत्र**

लेखक
एच. एल. दुसाध

**बहुजन डाइवर्सिटी मिशन
दिल्ली-47**

परिवर्द्धित संस्करण : 2014

प्रकाशक : बहुजन डाइवर्सिटी मिशन
एफ-196, आया नगर एक्स, फेज-6, नई दिल्ली-110047
E-mail : hl.dusadh@gmail.com
मो. 9654816191

© प्रकाशक

मूल्य : 50.00 रुपये

रचना : बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का घोषणापत्र
संपादन : एच. एल. दुसाध
शब्दांकन : कम्प्यूटेक सिस्टम, शाहदरा, दिल्ली-32
मुद्रक : क्विक ऑफसेट, दिल्ली-94

वितरक : दुसाध प्रकाशन
डाइवर्सिटी हाउस, वार्ड-शंकरपुरवा
आदिल नगर, कल्याणपुर, लखनऊ-226022

जन्मजात सर्वहाराओं की मुक्ति के संघर्ष
में अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले
अनाम संग्रामियों
को
समर्पित

विषय सूची

प्रस्तावना	6
अध्याय—1	
भारत में आर्थिक संघर्ष का इतिहास	17
स्वधर्म पालन करवाने के लिए ही राज्य की उत्पत्ति	18
स्वधर्म पालन का आर्थिक निहितार्थ	19
वर्ण-व्यवस्था के निर्माण के पीछे साम्राज्यवादी परिकल्पना	20
भारत के इतिहास में संघर्ष का मूल मुद्दा : आरक्षण	21
धन-धरती पर अधिकार अटूट रखने के लिए:वर्ण-शुद्धता का सिद्धांत	23
आरक्षण पर संघर्ष के चलते बौद्ध भारत तब्दील शुंग भारत में	25
इस्लाम भारत के निर्माण में हिन्दू आरक्षण की क्रियाशीलता	26
हिन्दू आरक्षण से निजात के लिए : ब्रिटिशराज का स्वागत	28
वर्ण-व्यवस्था के वितरणवादी स्वरूप पर आईपीसी का हमला	30
हिन्दू आरक्षण की काट के लिए बहुजनवादी आरक्षण हेतु संघर्ष	31
इतिहास के महानतम् नायक : डॉ. आंबेडकर	32
स्वाधीनोत्तर भारत का इतिहास:विशुद्ध आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास	33
आरक्षण के मुद्दे पर सृष्ट हुआ संघर्ष का एक और इतिहास	35
मंडलवादी आरक्षण के विरुद्ध संगठित हुआ स्वाधीनोत्तर भारत का सबसे बड़ा आंदोलन	37
हिंदू साम्राज्यवाद के लिए नवसाम्राज्यवाद का स्वागत	38
इतिहास के गर्भ से निकला डाइवर्सिटी का मुद्दा	40
अध्याय—2	
बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का उद्देश्य	44
उपरोक्त लक्ष्यों हासिल करने के लिए :	50
अध्याय—3	
राष्ट्रहित में डाइवर्सिटी	51

प्रस्तावना

वर्ग-शासन शुरू हुए हजारों वर्ष हो गये। जिस वर्ग के हाथ में आर्थिक साधन तथा सम्पत्ति थी, उसी के हाथ में शासन था और उसने इसी शक्ति के बल पर निर्बलों का शोषण और उत्पीड़न किया। इन हजारों वर्षों में समाज के तरह-तरह के विकास होते भी हमने जनता की अधिक संख्या को सारे संसार के भरणपोषण को भार वहन करते, भूख और दीनता की चक्की में पिसते देखा, जबकि उन्हीं के श्रम के बल पर चन्द व्यक्ति बड़े सुख और विलास का जीवन बिताते रहे। इन चन्द व्यक्तियों ने दूसरे के धन, स्त्री या स्वतंत्रता के अपहरण के लिए युद्ध घोषित किया और बहुसंख्यक जन मृत्यु के मुंह में पड़े। इन चन्द व्यक्तियों ने जनों के लिए कानून बनाए—तुम्हें इस परिस्थिति में यह काम करना होगा, तुम्हें श्रम के लिए इस तरह से वेतन मिलेगा, तुम्हें इस तरह सोचना, बोलना और चलना होगा, और वह वैसा करते रहे। उन्हींने हाल तक, असह्य होने पर चन्द छोटी-छोटी बगावतों को छोड़, चुपचाप सारे अत्याचारों को सहा।

लेकिन इन हजारों वर्षों में बहु-संख्यकों पर होते दारुण अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने वाले, उत्पीड़न-शून्य नये समाज का स्वप्न देखने वाले भी जरूर पैदा हुए, यद्यपि उनकी संख्या कम थी, उनकी आवाज क्षीण थी, किन्तु शोषण, उत्पीड़न के बढ़ाव के साथ-साथ यह क्षीण आवाज भी ऊंची होती गई। मगर, जब तक वह आवाज अवास्तविक तथा आकाश से आती रही, तब तक उसमें वह ताकत नहीं आई, जो कि ठोस पृथ्वी-तल से उसके घने वायुमंडल में गूँजने पर पिछली एक शताब्दी के भीतर देखी गई।

मानव-समाज की आर्थिक विषमताएं ही वह मर्ज है, जिसके कारण मानव-समाज में दूसरी विषमताएं और असह्य वेदनाएं देखी जाती हैं। इन वेदनाओं का अनुभव हर देश-काल में मानवता-प्रेमियों और महान् विचारकों ने दुख के साथ अनुभव किया और उसको हटाने का यथासंभव प्रयत्न भी किया। भारत में बुद्ध (563-483 ई.पू.), चीन में मो-ती (480-400 ई.पू.), ईरान में मज्दक (529 ई.) तिब्बत में मुने-चुने पां (1846-47 ई.), यहूदी संतों में अमां (800 ई.पू.), इसैया (746-700 ई.पू.) यूरोप में अफलातू (427-347 ई. पू.), सैनेका (ई.पू. 65 ई.), सवोनरोला (145-298 ई.), आन्द्रेयाये, पीटर चेम्बरलैंड (1649 ई.), वोलूतेर (1649- 1778 ई.), टामस स्पेन्स (1750-1814 ई.), विलियम गाडविन (1793 ई.), सेन्ट साइमन (1760-1825 ई.), फूरिये (1772-1837 ई.), प्रूथो (1809-35 ई.), चार्ल्स हाल (1805 ई.), राबर्ट आवेन (1771-1860 ई.) जैसे अनेक विचारक प्रायः ढाई सहस्राब्दियों तक उस समाज का स्वप्न देखते रहे, जिसमें मानव समान होंगे, उनमें कोई आर्थिक विषमता नहीं होगी,

लूट-खसोट, शोषण-उत्पीड़न से वर्जित मानव-संसार उस वर्ग का रूप धारण करेगा, जिसका लाभ भिन्न-भिन्न धर्म मरने के बाद देते हैं। लेकिन विषमता हटाने और साम्यवाद को स्थापित करने का स्वप्न देखने वाले उस साधन को नहीं पा सके, न बतला सके, जिसके द्वारा मनुष्य की सामाजिक विषमता हटाई जा सके। पूर्वी और पश्चिमी संतों ने इसका उपाय हृदय-परिवर्तन को बतलाया। पुराने युग के लोगों की बात छोड़िये, इस 20वीं शताब्दी में भी गांधी जी जैसे और बहुत पुरुष हृदय-परिवर्तन द्वारा समानता की स्थापना करना चाहते थे।

ढाई हजार वर्षों से भिन्न-भिन्न स्वप्नद्रष्टाओं ने साम्यवादी समाज को लाने के लिए जो भी सोचा-किया था, उसके लिए मौखिक ही नहीं, बहुतें ने क्रिया के रूप में भी परिणत करना चाहा और भारी बलिदान के साथ। ईरान के मज्दक ने अपनी और अपने लाखों अनुयायियों की जानें इसी प्रयत्न में गंवाई। लेकिन विषमता हटाने की समस्या वैसी की वैसी बनी रही। इस समस्या को हल करने का जिसने वैज्ञानिक ढंग निकाला, जिसने इस रोग का बारीकी के साथ निदान किया, और उसकी औषधि को भी परख-परख कर देखा, वह मार्क्स वस्तुतः नये युग का विधाता है, नये संसार के निर्माताओं में वह प्रथम है, और उसकी पैनी सूझ तथा परख उसे दुनिया का सर्वश्रेष्ठ विचारक सिद्ध करती है।

साथियों! उपरोक्त विचार महापंडित राहुल सांकृत्यायन के हैं जो उन्होंने अपने ग्रंथ 'कार्ल-मार्क्स' का विषय प्रवेश लिखते हुए व्यक्त किया था। महापंडित का यह कथन सही है कि मानव समाज की आर्थिक विषमताएं ही वह मर्ज है, जिसके कारण मानव समाज में दूसरी विषमताएं और असह्य वेदनाएं देखी जाती हैं। यह भी काफी हद तक ठीक है कि ढाई हजार वर्षों से आर्थिक विषमता मिटाने के लिए भिन्न-भिन्न स्वप्नद्रष्टाओं ने चिन्तन किया, उनमें मार्क्स संभवतः पहला व्यक्ति था, जिसने इस समस्या का हल निकालने का वैज्ञानिक ढंग ; इस रोग का बारीकी के साथ प्रस्तुत किया; निदान किया और उसकी औषधि को भी परख कर देखा। भूमंडलीकरण के दौर में, पूंजीवाद के सैलाब में एक-एक करके मार्क्सवाद के दुर्गों को ढहते हुए देखकर भी हम यह स्वीकार करते हैं कि नये संसार के निर्माताओं में वह प्रथम और संभवतः दुनिया का सर्वश्रेष्ठ विचारक था। लेकिन इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि मानव समाज के विषमता के दूरीकरण के मोर्चे पर मार्क्स ने काफी शून्यता छोड़ी थी। इसी शून्यता को भरने के क्रम में मानवता के इतिहास में महानायक की भूमिका में अवतीर्ण हुए अमरीका के शोषक समाज की संतान व उनके ही समकालीन अब्राहम लिंकन। इस शून्यता को भरने के लिए जब अमरीका के ही शोषक समाज की एक गृहिणी व पादरी पिता की पुत्री हैरियट बीचर स्टो ने कलम उठाया तो 1851 में निकली 'अंकल टॉम्स केबिन' जैसी अमर रचना, जिसने संगदिल लोगों में मानवता का झरना बहा दिया। जिन दिनों मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित छोटी सी किताब 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' यूरोप के श्रेणी समाज में शोषक और शोषितों के छोटे-बड़े संघर्षों की पटकथा तैयार कर रही थी, उन्हीं दिनों

बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का घोषणापत्र / 7

हैरियट स्टो की भी लघु रचना 'अंकल टॉम्स केबिन' यूरोप से हजारों मील दूर अवस्थित अमरीका में नस्लभेद का शिकार बनकर नर-पशु बन चुके नीग्रों लोगों की मुक्ति के मुद्दे पर शोषक वर्ग को ही एक-दूसरे के खिलाफ कमर कसने के लिए प्रेरित कर रही थी। नतीजा अमेरिकी गृहयुद्ध!

लगभग चार सालों तक चले उस युद्ध ने पूरे अमेरिकी प्रभु समाज को इंसानियत और हैवानियत के दो खेमों में बांटकर रख दिया था। हर अमेरिकी ने उस जंग में शिरकत की। जिनके पुरखों ने नीग्रो दासों का पशुवत् इस्तेमाल कर अपनी सुख-समृद्धि का महल खड़ा किया था उन्हीं की भावी पीढ़ी में संचारित हुआ था, प्रायश्चित बोध। अपने पूर्वजों के अमानवीय कुकृत्यों का प्रायश्चित करने व शोषणकारी दास प्रथा को मिटाने के लिए अमेरिकनों ने थाम लिया था बन्दूक, अपने उन भाइयों के ही खिलाफ जिनमें वास कर रही थी उनके पूर्वजों की आत्मा। गृह युद्ध के बाद साकार हुआ हैरियट और लिंकन का सपना तथा मानवता को मिली एक बेमिसाल जीत। 1866-78 तक 'दास कपिटल' की प्रसव वेदना से गुजर रहे मार्क्स को अमेरिका में घटित मानवता की मुक्ति के उस महासंग्राम ने कितना स्पर्श किया, नहीं पता, पर हमें यह पता है कि फुले ने जब 1873 में जाति समाज के शोषितों की मुक्ति का घोषणा-पत्र 'गुलामगिरी' जारी किया तो उसे अमेरिका के उन सदाचारी लोगों को समर्पित करना नहीं भूले, जिन्होंने काले गुलामों को गुलामी से मुक्त करने के कार्य में उदारता, निरपेक्षता और उपकार का भाव दिखाया था।

ऐसा क्यों कर हुआ कि दास मुक्तिकामी हैरियट स्टो ने जब कलम थामा तो ताउम्र सिर्फ और सिर्फ कालों की मुक्ति के लिए सृजन करती रहीं और फुले ने जब अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना निकाली तो उसे दास मुक्ति संग्राम से जुड़े लोगों को समर्पित कर दिया; जबकि मार्क्स जैसा महान् मानवतावादी तुलनमूलक रूप से निर्लिप्त रहा। इसका कारण संभवतः कबीर के इस दोहे— तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आखन की देखी— में छिपा है। हैरियट अमेरिका में जन्मीं थीं जहां नस्लभेद मानने वाले गोरे प्रभुवर्ग ने कालों को नर-पशु मानकर उनके श्रम का चरम शोषण करते हुए मानवता को जार-जार कर दिया था। मानवता के उस करुण चित्र से संवदेनशील हैरियट स्टो निर्लिप्त न रह सकीं, और जब कलम उठाया तो पहले नीग्रो—स्लेवरी पर मानव हृदय को द्रवित कर देने वाले रेखा चित्र और फिर उन चित्रों को अंकल टॉम्स केबिन की कहानी में ढाला। उसके बाद तो दास प्रथा विरोधी उनकी रचनाओं का सिलसिला ड्रेड: ए टेल ऑफ द ग्रेट डिस्मल स्वाम्प, दि पर्ल ऑफ ओर्स ओल्ड, ओल्ड टाइम फोक तक अटूट रहा। वही बात फुले के साथ भी थी। नस्लभेद से भी बदतर जातिभेद व्यवस्था में विषमता, शोषण और मानवता का कुत्सित रूप फुले ने न सिर्फ देखा, बल्कि भोगा भी था। इसलिए नस्लवादी अमेरिका में मानवता का जय देख कर फुले उत्फुल्लित हो उठे और समर्पित कर दिये अपनी रचना दास मुक्ति संग्रामियों को। लेकिन जाति व नस्ल भेदभाव, समाजों में व्याप्त विषमता व

अमानवीयता आदि को न तो मार्क्स ने देखा और न भोगा था, उन्होंने सिर्फ लाइब्रेरियों में बैठकर इन समस्याओं को मात्र जाना था। इसलिए वे अपने समकालीन लिंकन, हैरियट और फुले की भांति जन्मगत विषमताओं को शिद्दत के साथ महसूस न कर सके, क्योंकि कागद पढ़कर एक सीमा तक ही जाना जा सकता है।

जन्मगत विषमताओं के शिकार लोगों के दुर्भाग्य से महानतमविचारक मार्क्स ने एक ऐसे समाज में जन्म ग्रहण किया था जो प्राचीन सभ्यता के पैट्रिशियन, नाईट्स, प्लेबियन और दास; मध्ययुग के सामन्त, अणुसामन्त, गिल्डमास्टर, जर्निमैन, भूमिदास की विविध मानव श्रेणियों से होते हुए अमीर-गरीब के दो वर्गों का रूप ले चुका था; जो भारत के चातुर्वर्ण्य सादृश्य प्लेटों के त्रिवर्ग सिद्धांत को धूलिसात करते हुए, जर्मन शूद्र मार्टिन लूथर और स्विश जॉन काल्विन, वाल्टेयर के बुद्धिवादी आंदोलन के सहारे धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त; हॉब्स के 'लेवियथन', लॉक के 'ट्रिटिज ऑफ सिविल गवर्नमेंट' और रूसो के 'सोशल कन्ट्रैक्ट' के सहारे नागरिक अधिकारों से पुष्ट एवं 1096 में इंग्लैण्ड के राजा विलियम के समक्ष सालिसबरी में शपथ लेकर अपने अधिकारों का स्वाद चखने के बाद 1215 में चार्टर ऑफ मैग्नाकार्टा से होते हुए 1688 में राजा जेम्स द्वितीय को पलायित एवं संसदीय प्रणाली स्थापित कर अपने राजनैतिक अधिकारों से अवगत हो चुका था। उधर 1789 में घटित फ्रांसिसी क्रांति ने उसे समता, स्वाधीनता और बन्धुता का भी एहसास करा दिया था। अब वह समाज जूझ रहा था कॉपरनिकस, ब्रूनो, विलियम हार्वे, गैलेलियो, लियोनार्दो विन्सी, आइजक न्यूटन इत्यादि द्वारा शुरू की गई वैज्ञानिक क्रांतियों के परिणाम से, जिसकी कड़ी में आगे चलकर जेम्सवाट और जार्ज स्टीफेंसन की खोजों ने औद्योगिक उत्पादन में क्रांति घटित कर दी; जो जान व सेवेस्टाइन कैबेट, ड्रेक हाकिन्स, फ्लेशियर, बार्थेल्मू दियाज, वास्कोडिगामा, कोलम्बस, मैगेलन जैसे जुझारू नाविकों द्वारा नये-नये देश खोज निकालने के बाद और घनीभूत हो गयी। वैसे समाज में जन्मे मानवता के महान रक्षक और अत्यन्त असाधारण विचारक मार्क्स के समक्ष पूंजीवाद का ध्वंस और समाजवाद की स्थापना से भिन्न कोई लक्ष्य ही नहीं हो सकता था। और मार्क्स ने अपने लक्ष्य को पाने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

वे अनिघ सुन्दरी पत्नी जेनी के प्रेम और असाधारण प्रतिभाशाली चिंतक व सहृदय उद्योगपति मित्र फ्रेडरिक एंगेल्स के सहारे, अभाव की दरिया में तैरते हुए भी जुनून की हद तक मानवता के कल्याण के लिए ज्ञान को हथियार बनाने में जुटे रहे। अपने लक्ष्य में लीन अद्भूत प्रतिभा का धनी वह मनीषी जब जीविकोपार्जन व अपने विचारों को अन्यान्य देशों में फैलाने के लिए दस सालों तक पूंजीवाद देश अमेरिका के 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' की शरण में जाने के लिए बाध्य हुआ तो जातिभेद के पंक में फंसे भारत के लिए, 25 जून 1853 और 8 अगस्त 1853 को दो लेख लिखने से अधिक बौद्धिक सहयोग न कर सका। करता भी कैसे? मार्क्स ने खुद ही 1845 में ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को अंतिम रूप देते हुए माना था, 'प्रत्येक ऐतिहासिक युग में उत्पादन और उसका अवश्य अनुगामी ढांचा उस युग के

राजनीतिक और बौद्धिक इतिहास के आधार होते हैं, और इसीलिए सारा इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है'। वर्ग संघर्षों के इतिहास पर मतभिन्नता हो सकती है, पर इसमें कोई शक नहीं कि ऐतिहासिक युग की स्थितियां बौद्धिक इतिहास का आधार होती हैं। इसलिए यूरोप की तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्स का ऐसे विचारक के रूप में उदय होता है जो पूंजीवाद के शोषण से शोषितों को बचाने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र तैयार करता है। इसी तरह विश्वमय फैले श्रेणी समाजों के विपरीत दुनिया के एकमात्र विरल व विचित्र जाति समाज की तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप जब भारत के जाति समाज में, मार्क्स से मात्र 9 साल छोटे, फुले का उदय होता है तब वह जातिभेद व्यवस्था से जन्मी विषमता के निवारण के लिए बहुजन समाज की मुक्ति का घोषणा पत्र 'गुलामगिरी' रचता है।

बहरहाल ब्रिटिश म्यूजियम में घंटों-घंटों समय व्यय कर, अंग्रेजों द्वारा भारत के विषय में लिखे दस्तावेजों के सहारे, महान मार्क्स ने जो कुछ लिखा, वह सही ही लिखा। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि पूंजीवाद के शोषितों की मुक्ति की व्यग्रता ने उसे इतना अवकाश नहीं दिया कि वह ब्राह्मणवाद सृष्ट विषमता का शिकार बने यूरोप के कई देशों की मिलित जनसंख्या व अमेरिका के समपरिमाणसंख्यक मानववैतरीयों की मुक्ति के लिए अध्ययन की और गहराई में डूब सके। इसलिए हर बात को आर्थिक नजरिये से देखने वाले मार्क्स जाति समस्या को श्रम विभाजन की समस्या से आगे न देख सके। अगर वे अध्ययन की गहराइयों में गोते लगाते तो जाति का अर्थशास्त्र समझ पाते। तब हिन्दू शास्त्रों में दिये गये स्वधर्म पालन के आदेश के रास्ते कर्म-शुद्धता की अनिवार्यता और कर्म-संकरता की कठोर निषेधाज्ञा का दामन थाम कर इस नतीजे पर पहुंचते कि भारत की वर्ण/जाति व्यवस्था संपदा, संसाधनों और पेशों की वितरण व्यवस्था है जिसका एकमेव लक्ष्य सवर्णों को समस्त जागतिक सुखों से समृद्ध एवं शूद्रातिशूद्र बहुसंख्यक समाज को निःशुल्क दास के रूप में परिणत करना है। तब वे यह भी जान जाते कि भारत के जन्मजात सर्वहारा पूंजीवाद के दास नहीं मूलतः दैविक-दास (डिवाइन-स्लेव); ईश्वर द्वारा सृष्ट सर्वस्वहारा और यहां के सवर्ण ईश्वर द्वारा अधिकृत अपार धन-धरती और सामाजिक मर्यादा के स्वामी हैं। दैविक दासत्व ने जन्मजात सर्वहाराओं में ऐसा वीभत्स संतोषबोध भर दिया है कि उनमें उन्नततर जीवन की कोई चाह ही नहीं रही। इस विचित्र अभागे जाति समाज के लिए अलग से समय न देने के कारण वे यह भी नहीं बतला सके कि भारत में मनुष्य नहीं, चार वर्ण से विकसित दस हजार कलहरत मानव प्रजातियों का वास है, जो चूहे के एक-एक बिल के समान कई हजार समाजों में बंटे हैं, जिन्हें दो वर्गों में संगठित करना लगभग असंभव सा काम है। उनके अध्ययन का करुणतम् पक्ष तो यह भी रहा कि इस अभागे देश के उज्ज्वल भविष्य का सपना उन्होंने प्राचीन यूनानियों का प्रतिनिधि बताते हुए उन ब्राह्मणों में देखा जिन्होंने खुद को भूदेवता बनाकर भारत में 'मानव को ऊपर उठा परिस्थितियों का विजयी बनाने की जगह

बाहरी परिस्थितियों का गुलाम बनाया, स्वयं विकसित होने वाली सामाजिक स्थिति अपरिवर्तनशील रख प्रकृति के हाथ की कठपुतली बना दिया, इस प्रकार प्रकृति की पाशविक प्रजा को स्थापित किया और प्रकृति के राजा मानव का इतना अधः पतन कराया कि वह बानर हनुमान और कपिला गाय की पूजा में घुटने टेकने लगा। खैर, पूंजीवाद के शिकार बने लोगों की मुक्ति में अतिशय व्यस्त रहने के कारण भारत की आर्थिक और सामाजिक विषमताओं का जो निदान मार्क्स न दे सके, वह काम इतिहास ने डॉ. आंबेडकर के कन्धों पर सौंपा, जिसे उन्होंने ऐतिहासिक अंदाज में अंजाम दिया।

मार्क्स ने जन्मगत आधार पर शोषण, जिसका चरम प्रतिबिम्बन भारत की जातिभेद और अमेरिका-दक्षिण अफ्रीका के नस्लभेद में हुआ, शिद्दत के साथ महसूस नहीं किया। पूंजीवाद व्यवस्था में जहां मुट्ठी भर धनपति शोषक की भूमिका में अवतीर्ण होता है वही जाति और रंगभेद व्यवस्था में एक पूरा का पूरा समाज शोषक तो दूसरा शोषण और दलन का शिकार। पूंजीपति तो सिर्फ सभ्यतर तरीके से आर्थिक शोषण करते हैं जबकि जाति और रंगभेद व्यवस्था के शोषक अकल्पनीय निर्ममता के साथ आर्थिक शोषण करने के साथ ही शोषितों की मानवीय सत्ता को पशुतुल्य मानते रहे हैं। भारत में ऐसे शोषकों की संख्या 15 प्रतिशत और शोषितों की संख्या 85 प्रतिशत रही। जबकि अमेरिका में शोषक समाज वहां का पूरा का पूरा गोरा ही रहा, जिसकी संख्या 70 प्रतिशत से ऊपर रही। जातीय और नस्ल आधारित सामाजिक संरचना के शोषक खुद को आनुवंशिक रूप से श्रेष्ठतर मानव प्रजाति का मनुष्य-प्राणी मानते हुए शोषितों को महज दासत्व के गुणों से सम्पन्न होने का पात्र समझते रहे हैं। वैसे समाजों के प्रचार माध्यमों द्वारा शोषितों को निरन्तर 'मेरिटहीन' प्रमाणित करने के कारण शोषित भी शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना खोकर चुपचाप गुलामी सहने के अभ्यस्त रहे। जन्मगत आधार पर शोषण का सबसे बड़ा दृष्टान्त भारत की जाति-व्यवस्था में स्थापित हुआ। नस्लभेद प्रथा में गुलाम बनाये गये शोषितों के साथ सहूलियत यह थी कि वे कथित श्रेष्ठतर प्रजाति के अपने स्वामी को खुश कर गुलामी से मुक्त हो सकते थे। पर, जातिभेद व्यवस्था के सर्वाधिक शोषित अस्पृश्यों के साथ यह सहूलियत नहीं थी। इसीलिए डॉ. आंबेडकर को कहना पड़ा था, 'अस्पृश्यता गुलामी से भी बदतर है', अस्पृश्य गुलामों के भी गुलाम हैं। गुलामों के इन्हीं गुलामी की मुक्ति के रास्ते दुनिया के बाकी गुलामों की मुक्ति का भार भी इतिहास ने डॉ. आंबेडकर के ऊपर डाल दिया था।

मानवता को दारुण अत्याचारों से निजात दिलाने के लिए डॉ. आंबेडकर ने भी कार्ल-मार्क्स की तरह ज्ञान को हथियार बनाया। दुनिया के प्राचीनतम साम्यवादी गौतम बुद्ध से लेकर मार्क्स, रूसो, हॉब्स, लॉक, लिंकन, फुले इत्यादि तमाम मानवता के मुक्तिकामी मनीषियों के अध्ययन के बाद उन्होंने खुद को समर्पित किया भारत के बहुसंख्यक लोगों के दुखों का मर्ज दूढ़ने में। उनकी यह खोज 'जाति का विनाश' नामक रचना के रूप में सामने आई, जिसे बहुतों ने कम्युनिस्ट पार्टी के मैनिफेस्टो

से भी अधिक महत्वपूर्ण कहा। चूंकि भारत के बहुजनों को दैविक दास बनाकर वीभत्स संतोषबोध की खाई में धकेल दिया गया था, इसलिए यहां महज 'धर्म को अफीम' कहने से काम चलने वाला नहीं था। ऐसे में बहुजनों को दैविक दासता से मुक्त करने व वीभत्स संतोषबोध की जगह उग्र-असंतोषबोध की भावना से लैस करने के लिए जरूरत थी 'हिन्दू धर्म की पहेलियां' और 'हिन्दुत्व का दर्शन' जैसी रचनाओं की, जो उन्होंने दिया। लेकिन भारत के जन्मजात सर्वहाराओं की दैविक गुलामी और वीभत्स संतोषबोध की मानसिक व्याधि इतनी प्रबल थी कि वह कुछ किताबों से दूर नहीं हो सकती थी। ऐसे में भारत में हर प्रकार की विषमता की जड़ जो वर्ण/जाति व्यवस्था में है, एवं जिसमें हिन्दू-धर्म का प्राण स्पन्दित होता है, उससे दैविक दासों को बाहर निकालने के लिए उन्होंने न सिर्फ हिन्दू धर्म के परित्याग का आह्वान किया बल्कि परवर्तीकाल में बौद्ध-धर्म अपनाकर, इस दिशा में नेतृत्व भी दिया। लेकिन सबसे बड़ा काम तो उन्होंने आर्थिक विषमता, जिसके कारण मानव-समाज में दूसरी विषमताएं और असह्य वेदनाएं देखी जाती हैं, के दूरीकरण के मोर्चे पर किया। इस कार्य में सहायक बना उनके गुरु द्वारा विकसित आरक्षण का सिद्धांत।

भारत में कई हजार सालों से आर्थिक विषमता की जड़ में रही है सिर्फ और सिर्फ वर्ण-व्यवस्था। धर्म के आवरण में लिपटी वर्ण-व्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यवस्था रही जिसमें अपरिवर्तनीय रूप से धन-धरती और उच्च कोटि के तमाम पेशे सवर्णों के साथ सम्बद्ध रहे। आर्थिक अधिकारों की इसी अपरिवर्तनीयता के कारण वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू आरक्षण का रूप ले लिया, जिसके चलते भारत का बहुजन आर्थिक विषमता की खाइयों में गिरता और गिरता चला गया। तमाम आर्थिक स्रोतों को सवर्णों के लिए आरक्षित कर भारत में आर्थिक विषमता की जो बुनियाद रखी गयी, उसने परवर्तीकाल में कुतुबमीनार का रूप ले लिया। अगर जहर की काट जहर हो सकती है तो किसी आरक्षण व्यवस्था के द्वारा खड़ी की गई आर्थिक विषमता की खाई को पाटने के लिए कोई वैकल्पिक आरक्षण व्यवस्था ही कारगर हथियार हो सकती थी। ऐसे भारत की आर्थिक विषमता को पाटने के लिए जब मार्क्स के समकालीन फुले मैदान में उतरे, तो वे एक अत्याधुनिक आरक्षण प्रणाली का विचार दिये बिना न रह सके। उनके द्वारा प्रवर्तित आरक्षण की विचारप्रणाली का सबसे कारगर इस्तेमाल डॉ. आंबेडकर ने किया। उन्होंने अपने गुरु द्वारा इजाद हथियार के प्रयोग का सर्वाधिक बल जन्मगत आधार पर विश्व इतिहास में सर्वाधिक आर्थिक विषमता का शिकार बने गुलामों के गुलामों अर्थात् अस्पृश्य-आदिवासियों की बेहतरी के लिए किया।

परिणाम आश्चर्यजनक रहे। जिन मानवत्तरो के लिए विगत साढ़े तीन हजार वर्षों में कल्पना करना दुष्कर था, वे झुण्ड के झुण्ड एमएलए, एमपी, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, आईएएस-पीसीएस इत्यादि बनकर राष्ट्र की मुख्यधारा से जुड़ने लगे। जिस बेनजीर वंचित समाज के खिलाफ सौ पचास धनपति नहीं, कोटि-कोटि लोगों का ईश्वर द्वारा अधिकृत विशाल शोषक समाज शत्रु के रूप में लामबंद हो वैसे समाज को आर्थिक

सबलीकरण का आधार मुहैया कराने का जो परिणाम सामने आना चाहिए, वह आया। बाबा साहेब के मरणोपरान्त विश्व के विभिन्न देशों में जन्मगत निर्योग्यता के आधार पर आर्थिक विषमता का शिकार बने लोगों की मुक्ति के लिए आंबेडकरी आरक्षण का प्रयोग हुआ। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, इंग्लैण्ड, मलेशिया, आयरलैण्ड इत्यादि कई देशों में जन्मजात सर्वहाराओं की आर्थिक मुक्ति के लिए अलग-अलग नामों से आंबेडकरी आरक्षण का प्रयोग हुआ, लेकिन सबसे आगे निकल गया अमेरिका। जन्मजात सर्वहाराओं की मुक्ति का हथियार सुलभ कराने वाला गुरु भारत रह गया गुड़ और चेला अमेरिका बन गया चीनी। भारत में आंबेडकरी आरक्षण गुलामों के गुलामों को एमएलए, एमपी, प्रशासनिक अधिकारी, डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, बाबू इत्यादि बेहतर किस्म के शूद्र बनाने तक सीमित रहा। लेकिन अमेरिका में!

माक्स के समकालीन लेखिका हैरियट स्टो और महान राजनेता अब्राहम लिंकन इत्यादि के प्रयत्नों से नस्लभेद के शिकार नर-पशुओं को अमानवीय 'दास-प्रथा' से निजात मिली। लेकिन दास प्रथा के गुफा से निकलने के सौ वर्षों बाद भी वे बहुत से नागरिक अधिकारों व अवसरों से वंचित थे। इनके लिए 1950 के दौर में अश्वेत मार्टिन लूथर किंग (जू.) के नेतृत्व में शुरू हुआ 'सिविल राइट्स मूवमेंट'। इस आंदोलन के फलस्वरूप अमेरिकी सरकार बाध्य हुई आंबेडकरी आरक्षण के पैटर्न पर डाइवर्सिटी सिद्धांत अपनाने के लिए। आंबेडकरी आरक्षण ने जब अफरमेटिव एक्शन प्रोग्राम के द्वारा रूपायित होने वाली डाइवर्सिटी का रूप लिया, तो अमेरिकी दलित सरकारी ही नहीं निजी क्षेत्रों में भी सभी स्तर की नौकरियों में हिस्सेदारी पाने के साथ-साथ सप्लाई, डीलरशिप, ठेकों, फिल्म-मीडिया इत्यादि में आरक्षण पाकर सीईओ, अखबारों के संपादक, उद्योगपति, फिल्म स्टार बनने लगे।

एक तरफ जहां आंबेडकरी आरक्षण के डाइवर्सिटी रूपी सर्वव्यापी आरक्षण के गर्भ से निकल कर विलियम रास्पबेरी जैसे पत्रकार; राबर्ट एल. जॉनसन, जैनिक्स ब्रायंट जैसे बिलयनेयर उद्योगपति; ओप्रा विन्फ्रे और एडी मर्फी जैसे टी.वी. एंकर; डेजिल वाशिंगटन, हैलेबेरी, हूपी गोल्डबर्ग, जेनिफर हडसन, एजेंला बैसेट, क्रिस टकर, क्यूबा गुडिन (जू.), विल स्मिथ, डैनी ग्लोवर जैसे फिल्म सितारे और कल्पना चावला जैसी साइंटिस्ट अपने कृतित्व से दुनिया को विस्मित कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ आंबेडकरी आरक्षण से बेहतर किस्म के नौकर बने लोग सामाजिक जागरूकता फैलाने में व्यस्त रहे। बेशक इस बीच आंबेडकर के समतुल्य उभरे बहुजन मुक्तिकामी मान्यवर कांशीराम ने 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी भागीदारी' का नारा देकर शासन-प्रशासन के साथ देश के कारोबार में हिस्सेदारी का मामला जोर-शोर से उठाया। लेकिन भारत के जन्मजात सर्वहाराओं का ध्यान 'देश के काराबोर में हिस्सेदारी' की ओर नहीं गया। वे उत्तम-मध्यम-निम्न कोटि के नौकर बनकर ही संतुष्ट थे। उधर हिन्दू आरक्षणवादी 90 के दशक में भूमंडलीकरण की अर्थनीति (रणनीति) को हथियार बनाकर आंबेडकरी आरक्षण को महज कागजों तक सिमटे रखने का षड्यन्त्र करने लगे। इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में जब वे आरक्षण के खात्मे के लिए सुरक्षा से जुड़े सरकारी उपक्रमों तक

को बेचने में सर्वशक्ति लगाने लगे, तब भूमंडलीकरण के प्रतिकूल दौर में भी सामाजिक परिवर्तन की धारा को तीव्रतर करने व आंबेडकरवाद के विस्तार के लिए दलित चिंतक चन्द्रभान प्रसाद और उनके कुछ साथियों के सौजन्य से भारतीय बौद्धिक क्षितिज पर डाइवर्सिटी का उदय हुआ। लेकिन कई वर्षों की बौद्धिक कवायद के बावजूद नौकरियों में ही आर्थिक मुक्ति का चरम लक्ष्य ढूँढने वाले जन्मजात सर्वहाराओं को डाइवर्सिटी स्पर्श न कर सकी। इस बीच 'देश के कारोबार' में बहुजनों की हिस्सेदारी की मांग बुलन्द करने वाले कांशीराम भी चिरनिद्रा में सो गये। उधर भारत के विकास की तेज रफ्तार जहां अर्थशास्त्रियों को हैरत में डाल रही थी, वहीं बहुजनों की उसमें नगण्य भागीदारी सामाजिक न्यायवादियों की पेशानी पर चिंता की लकीर पैदा कर रही थी।

इस स्थिति ने हम कुछ आंबेडकरवादियों को भी गहरी चिंता में डाल दिया। लम्बे समय तक संवाद चलाने के बाद इस नाजुक घड़ी में अपना कर्तव्य स्थिर करने के लिए हम सबों— मास्टर मान सिंह, डॉ. विवेक कुमार, आर.सी. भास्कर, वृजपाल भारती, अभिजित कुमार, मनोज दूहन, के. सौरव, ए.आर. जोशी, विरेन्द्र कुमार, सूरज पाल चौहान, डॉ. राजेन्द्र नागर, बुद्ध शरण हंस, बाबू लाल मधुकर, एस.आर. चौधरी, डॉ. डी.आर. जायसवाल, के.सी. मेश्राम, रविन्द्र कुमार दिवाकर, डॉ. राम समुझ, डॉ. प्रेमचंद पातंजलि, सुदेश तनवर, कविश कुमार, पुष्पेन्द्र भाष्कर, कमलेश कुमारी, कविता, प्रवीण कुमार, प्रेम रंजन, सुभाष एस.एस. बानसोडे, सुशीला रंजन, पंचम दास, शिवचरण नोनिया, संजय एस. खंडारे, डॉ. महेन्द्र प्रताप राणा, डॉ. दिनेश राम, डॉ. रविन्द्र कुमार, आर.पी.भारती, शम्भू नाथ, गुरनाम सिंह मुक्तसर, भाई बलदेव सिंह बांबिहा, जोगेन्द्र सिंह, जरनेल सिंह समाना, मंजीत मांडिया, डॉ. हर्मिला प्रकाश, शीलबोधि, मुकेश कुमार, रामलगन प्रसाद, गणेश रवि, रामदेव विश्ववन्धु, प्रो. रामलखन राम, प्रो. आई.जे. सिंह, डॉ. करण सिंह, गुरु प्रसाद मदन, आर. के. भारती, आर.पी. भारती, के.पी. चौधरी, गुरुचरण सिंह, सुनीता अवजीत, रामरतन सागर ने पिछले दिनों एक बैठक की। मास्टर मानसिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई उस बैठक में देश के काराबोर में बहुजनों की हिस्सेदारी दिलाने हेतु 'बहुजन डाइवर्सिटी मिशन' नामक एक बौद्धिक संगठन खड़ा करने का निर्णय लिया गया। इस संगठन के विचारों और उद्देश्यों को राष्ट्र के समक्ष प्रकट करने के लिए सर्वसम्मति से उसका मैनिफेस्टो लिखने की जिम्मेवारी मुझपर सौंपी गयी जो अब आपके सामने है। बहरहाल व्यक्तिगत रूप से बीडीएम के निर्माण के पीछे कुछ व्यक्तियों के अवदान को अलग से चिन्हित करना आवश्यक समझता हूँ। इस क्रम में पहला नाम डॉ. संजय पासवान का आता है जो विगत डेढ़ साल से डाइवर्सिटी के लिए कंपेनिंग चलाने हेतु किसी संगठन के निर्माण के लिए मुझे निरंतर प्रेरित करते रहे। इस किस्म का संगठन कैसे अस्तित्व में आये और उसमें किन-किन व्यक्तियों को शामिल किया जाय, इसके लिए डॉ. पासवान के साथ डॉ. विवेक कुमार और विरेन्द्र कुमार ने काफी बौद्धिक मशक्कत की। किन्तु यह आर.सी. भास्कर साहब थे,

जिन्होंने न सिर्फ डाइवर्सिटी अभियान के लिए किसी संगठन के निर्माण हेतु मुझ पर अतिरिक्त दबाव डाला बल्कि बीडीएम के निर्माण में बढ़-चढ़कर सक्रियता दिखाया। अतः बीडीएम के संस्थापक सदस्यों के साथ इन महानुभावों के प्रति विशेष आभार प्रकट करना अपना आवश्यक कर्तव्य मानता हूँ।

15 मार्च, 2007

एच.एल. दुसाध

बहुजन
डाइवर्सिटी मिशन का
घोषणापत्र

अगर मानवजाति (दुनिया) का इतिहास आर्थिक और वर्ग संघर्ष का इतिहास है, तो विश्व के एकमात्र विरल व विचित्र भारत के जाति समाज का इतिहास सवर्णों और मूलनिवासियों के मध्य आरक्षण पर केंद्रित संघर्ष का इतिहास है, जिसकी नवीनतम् कड़ी है डाइवर्सिटी आंदोलन।

अध्याय—1

भारत में आर्थिक संघर्ष का इतिहास

सामाजिक परिवर्तन के लिए हर व्यक्ति, समूह और संगठन ने इतिहास से प्रेरणा लेने की कोशिश की है। इस क्रम में उसने मानव के संघर्षों के मूल अंतर्विरोध को समझने की कोशिश की है। जो देश, काल की परिस्थितियों के आधार पर विभिन्न बिन्दुओं पर रहा। लेकिन जो कारण सर्वत्र व्याप्त रहा वह आर्थिक कारण है। अर्थात् दुनिया में सर्वत्र मानव-मानव के बीच लड़ाई का कॉमन कारण संपदा-संसाधनों पर कब्जा जमाना रहा। संभवतः इसीलिए दुनिया के महानतम् विचारक मार्क्स ने कहा कि दुनिया (मानव जाति) का इतिहास वर्ग व आर्थिक संघर्ष का इतिहास है। लेकिन अगर भारत के संदर्भ में इतिहास की विवेचना की जाय तो मानव के परस्पर संघर्षों के कॉमन कारण के अतिरिक्त अन्यान्य कारण भी आरक्षण के साथ जुड़े रहे हैं। ऐसे में कहा जा सकता है कि अगर मार्क्स के अनुसार मानव जाति का इतिहास वर्ग व आर्थिक संघर्ष का इतिहास है तो भारत में वह संघर्ष आरक्षण पर संघर्ष का ही इतिहास है। और अगर भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है तो वह मूलतः वर्ण/जातीय संघर्ष का इतिहास है। क्योंकि फुले से लेकर कांशीराम तक सामाजिक परिवर्तन के तमाम महानायकों ने भारत के इतिहास को मूलतः वर्ण/जाति पर केन्द्रित संघर्ष का ही इतिहास बताया है। बाबा साहेब का भी मत इससे भिन्न नहीं था। उन्होंने भारत का इतिहास बौद्ध और हिन्दू संस्कृति के मध्य संघर्ष का इतिहास बताया है। चूंकि हिन्दू संस्कृति वर्ण-व्यवस्था की पोषक व बौद्ध संस्कृति वर्ण-व्यवस्था विरोधी है इसलिए वह भी वर्ण-व्यवस्था के केन्द्रित संघर्ष का इतिहास हुआ। इस तरह हम मान सकते हैं कि डॉ. आंबेडकर की भारतीय इतिहास पर परिभाषा भी फुले और कांशीराम से बहुत भिन्न नहीं थी। ऐसे में अगर भारत का इतिहास वर्ण-व्यवस्था पर संघर्ष का इतिहास है तो वर्ण-व्यवस्था क्या है?

वर्ण-व्यवस्था क्या है, इसकी एक सुनिर्दिष्ट परिभाषा तय नहीं हो पाई है लेकिन हिन्दुओं के लिए इसका महत्त्व अमापनीय रहा है। इसके गुरुत्व से अभिभूत होकर ही स्वामी विवेकानंद ने वर्ण-व्यवस्था को मानव को ईश्वर प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार कहा है। यह वह धर्माधारित विधान है जिसका अनुसरण कर सुप्राचीन काल से ही हिंदू अपनी जीवन पद्धति परिचालित एवं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार आचरण के लिए मानव को प्रेरित करना ही वैदिक काल से धर्मशास्त्रों का लक्ष्य रहा है। प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्र प्रणेताओं का ऐसा मत रहा है कि प्राणीमात्र का कल्याण उनके स्वधर्म-पालन में निहित है। इस जगती-तल पर जब प्रत्येक प्राणी स्वधर्म पालन में संलग्न रहता है, उसके नियमों का उल्लंघन करने की

चेष्टा नहीं करता, तब जगत में सुख और शांति की वर्षा होती रहती है। प्रत्येक प्राणी सुखी और सन्तुष्ट होकर परस्पर सहयोग एवं सद्भावना से जीवन व्यतीत करता हुआ, अपने परम ध्येय (मोक्ष) की प्राप्ति में तत्पर रहता है और इस प्रकार द्वन्द्वमय जगत से निवृत्त होकर अनन्त आनन्द का भोग करने का अधिकारी बन जाता है।

धर्मशास्त्र संबंधी संस्कृत-साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है कि मनु धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता हुए। धर्मशास्त्र संबंधी संपूर्ण ज्ञान मानव के कल्याण हेतु सर्वप्रथम ब्रह्मा से मनु ने प्राप्त किया था। मानव धर्मशास्त्र में मनु ने स्वयं कहा है—‘ब्रह्मा ने धर्मशास्त्र की रचना कर वह धर्मशास्त्र मुझे दिया। इसके उपरान्त मैंने यह धर्मशास्त्र मरीचि आदि ऋषियों को दिया।’ फिर मनु के शिष्य भृगु ने इस धर्मशास्त्र का ज्ञान अन्य ऋषि मुनियों को दिया। नारद-स्मृति में इसका समर्थन करते हुए नारद कहते हैं, ‘मनुष्य मात्र के आचरण हेतु स्वयंभू भगवान् मनु ने उन पर अनुग्रह कर, इस लोक में उनके लिए धर्मशास्त्र की रचना की।’ इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि मनु धर्मशास्त्र के आदि प्रणेता हैं।

बहरहाल अन्य भारतीय धर्मशास्त्र प्रणेताओं की भांति ही आदि प्रणेता मनु का यह मानना रहा है कि प्राणीमात्र का कल्याण ही स्वधर्म पालन में है, पर मनुष्य समाज ऐसे प्राणियों से बना है, जिनमें स्वधर्म परायणता दुर्लभ है। इसलिए इन अशुचि, अधर्मपरायण प्राणियों को स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करने के लिए उन्हें दण्डित करना परमावश्यक है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने दण्डविधान की व्यवस्था दी। मनु के अनुसार दण्ड का सर्जन ईश्वर ने स्वयं किया। इस प्रकार मनु के मतानुसार धर्म और दण्ड दोनों की उत्पत्ति साथ-साथ हुई है और दण्ड का उद्देश्य धर्म संस्थान एवं धर्मरक्षा है। मनु ने धर्मरक्षा हेतु जो दण्डनीति बनाई, वही राजशास्त्र अर्थात् राजधर्म के रूप में मान्य हुई।

स्वधर्म पालन करवाने के लिए ही राज्य की उत्पत्ति

‘प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र उद्देश्य धर्म-संस्थापन बतलाया गया। इस धारा पर प्रत्येक प्राणी स्वधर्म पालन सम्यक प्रकार करता रहे, जगत में धर्मसंकरता उत्पन्न न होने पाये-बस यही राज्य का एकमात्र कर्तव्य बतलाया गया है। इसलिए प्राचीन राजशास्त्र धर्मानुप्राणित है। धर्म से पृथक रहकर भारतीय राजशास्त्र धर्म के अधीन माना गया है। इस दृष्टि से प्राचीन राजशास्त्र अर्थात् राजधर्म का अस्तित्व नहीं रहा। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि धर्म और राजधर्म का सहअस्तित्व मात्र प्राचीन भारत में रहा। कुछ हद तक बौद्ध भारत को छोड़कर यह स्थिति लार्ड मैकाले की आईपीसी लागू होने के पूर्व तक रही। हां, मनु के विषय में धर्मज्ञों की आम राय है कि ‘उनके द्वारा प्रतिपादित आवधिक सिद्धांत का आदिस्त्रोत ऋग्वेद की वे ऋचायें हैं, जिनमें विराट पुरुष से मानव समाज के निर्माण की कल्पना की गई है। और जिसमें एक से अनेक के उत्पन्न होने और पुनः अनेक से एक में लय होने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है।’ बहरहाल वर्ण-व्यवस्था की

अहमियत को समझने के लिए उस स्वधर्म का निहितार्थ जानना आवश्यक है जिसके अनुपालन को ही धर्मशास्त्र के प्रणेताओं ने प्राणीमात्र का कल्याण घोषित किया एवं जिसके लिए सुदूर अतीत में, आधुनिक भारत के राजधर्म (आंबेडकरी संविधान) की भांति ही प्राचीन काल में मनु के विधान (राजधर्म) का प्रवर्तन हुआ।

स्वधर्म पालन का आर्थिक निहितार्थ

दरअसल जिसे धर्मशास्त्रों में स्वधर्म का पालन कहा गया है, वह मानव मात्र का धर्म नहीं, बल्कि हिन्दू ईश्वर (विराट पुरुष) के विभिन्न अंगों से जन्मे प्रधानतः चार वर्ण के अलग-अलग मानव समूहों का धर्म है। स्वधर्म पालन के नाम पर चार वर्णों में बंटे मानव समूहों के लिए भिन्न-भिन्न कर्म/पेशे (वृत्तियाँ) धर्मशास्त्रों द्वारा स्थिर किये गए। इनमें ब्राह्मण वर्ण के मानव समूहों का धर्म अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य, राज्य संचालन में मंत्रणादान; क्षत्रियों का धर्म भूस्वामित्व, शासन-प्रशासन व सैन्य संचालन इत्यादि तो वैश्यों का धर्म पशुपालन, व्यवसाय-वाणिज्य का कार्य संपादित करना रहा। स्वधर्म पालन में हिन्दू ईश्वर के जघन्य अंग, पैर से जन्मे बहुसंख्यक लोगों का धर्म रहा ऊपर के तीन वर्णों में अवस्थित मानव समूहों की निःशुल्क सेवा। चूंकि धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं की दृढ़ मान्यता थी कि केवल स्वधर्म पालन द्वारा ही जगत में सुख और शांति की वर्षा करायी जा सकती है; प्रत्येक प्राणी सुखी और संतुष्ट होकर परस्पर सहयोग एवं सद्भावना से जीवन व्यतीत करता हुआ मोक्ष की ओर प्रवृत्त हो सकता है एवं द्वन्द्वमय जगत से निवृत्त होकर अनंत आनन्द का भोग करने का अधिकारी बन सकता है; इसलिए उन्होंने कुछ ऐसे नियमों-साधनों और उपायों का प्रावधान किया, जिससे लोग किसी भी सूरत में स्वधर्मपालन से विच्युत न हो सकें। ये नियम, उपायादि ही वर्ण-व्यवस्था बने जिसमें किसी के लिए भी स्वधर्म विच्युति अर्थात् धर्म संकरता घटित करने का कोई अवसर नहीं रहा। स्वामी विवेकानंद जैसे जिन हिन्दुओं ने आत्मा (मनुष्यों) का चरम लक्ष्य परमात्मा (विराट पुरुष/ईश्वर) में विलीन होना अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना ही मान लिया, उन्होंने सर्वोत्तम लक्ष्य मोक्ष में वर्ण-व्यवस्था को सहायक मानकर इसे मानव को ईश्वर प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार घोषित कर दिया। लेकिन प्राचीन काल के धर्मशास्त्र प्रणेताओं से लेकर आधुनिक भारत के आध्यात्मिक, राजनैतिक और शैक्षणिक जगत में छाये मोक्षकामी विवेकानंदों ने अगर काल्पनिक पारलौकिक सुख का चश्मा हटाकर, वर्ण-व्यवस्था के लौकिक प्रभाव का आंकलन किया होता तो उन्हें यह मानव जाति को ईश्वर प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार नहीं, सबसे बड़ा अभिशाप और एक ऐसी आरक्षण व्यवस्था नजर आती जिसमें मूलनिवासी आबादी के लिए भौतिक सुखों का कोई अवसर नहीं रहा।

वास्तव में जिस स्वधर्म पालन में हिन्दुओं को सक्षम बनाने में वर्ण-व्यवस्था की प्रशंसा की जाती है, उस स्वधर्म को इतिहास की भौतिकवादी अभिधारणा और मूलनिवासियों की नजरों से देखने का गंभीर प्रयास नहीं हुआ। अगर हुआ होता तो

लगभग तीन साढ़े तीन हजार वर्षों से स्वधर्म पालन के नाम पर, मूलनिवासियों के रूप में, मानव संसाधन की विपुल बरबादी देखकर दुनिया सकते में आ जाती। विगत दशकों से वर्ण-व्यवस्था पर मानवाधिकार प्रेमियों की नजर पड़ने के बावजूद इसका मानव संसाधन हननकारी रूप पूरी तरह उजागर होना बाकी है। बहरहाल स्वधर्म पालन के लिए वर्ण-व्यवस्थाधारित राजधर्म लागू होने के फलस्वरूप जिस वर्ण के लिए धर्म पालन के नाम पर जो कार्य निर्दिष्ट किये गये, वे कर्म चिरकाल के लिए ही उसके लिए आरक्षित होकर रह गये। ऐसे में स्वधर्म पालन करवाने के उद्देश्य से प्रवर्तित वर्ण-व्यवस्था मूलतः एक आरक्षण व्यवस्था में क्रियाशील होने के लिए अभिशप्त हुई। इस आरक्षण व्यवस्था में स्वधर्म पालन के नाम पर चौथे वर्ण के अन्तर्गत आने वाले शूद्रातिशूद्रों के लिए ब्राह्मणों के आरक्षित पेशों अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य और राज्य संचालन में मंत्रणादान इत्यादि; क्षत्रियों के लिए आरक्षित शासन-प्रशासन, भू-स्वामित्व व सैन्यवृत्ति एवं वैश्यों को अपनाते का कोई अवसर ही नहीं रहा। आरक्षणवादी वर्ण-व्यवस्था के चलते शूद्रातिशूद्र चिरकाल के लिए शिक्षाहीन, भूमिहीन, व्यवसाय, वाणिज्यहीन बनने के लिए अभिशप्त हुए।

वर्ण-व्यवस्था के निर्माण के पीछे साम्राज्यवादी परिकल्पना

बहरहाल वर्ण-व्यवस्था का एक आरक्षण व्यवस्था में तब्दील होना महज संयोग नहीं रहा। इसे बहुत ही सुपरिकल्पित तरीके से एक आरक्षण-व्यवस्था का रूप दिया गया, इस तथ्य का सुराग हम पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा वर्ण-व्यवस्था के निर्माण के पीछे की गई इस टिप्पणी को पकड़कर पा जाते हैं। 'वर्ण-भेद, जिसका मकसद आर्यों को अनार्यों से जुदा करना था, अब खुद आर्यों पर अपना यह असर लाया कि ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बंटवारा हुआ, त्यों-त्यों नए वर्गों ने वर्ण या जाति की शक्ति ले ली। इस तरह, एक ऐसे जमाने में, जब फतह करने वालों का यह कायदा रहा कि हारे हुए लोगों को या तो गुलाम बना लेते थे, या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिवाला हल पेश किया और धंधों के बंटवारे की जरूरत से इसमें वैश्य बने, जिनमें किसान कारीगर और व्यापारी लोग थे; क्षत्रिय हुए जो हुकूमत करते या युद्ध करते थे; ब्राह्मण बने जो पुरोहिती करते थे, विचारक थे, जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे, जो मजदूरी करते और ऐसे धंधे करते थे, जिनमें खास जानकारी की जरूरत नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। कदीम वाशिदों से भी बहुत से इन समाजों में मिला लिए गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस समाज व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया।'

वास्तव में आर्यों ने वर्ण-व्यवस्था को जो आरक्षण का रूप दिया, उसे विजेता का धर्म भी कहा जा सकता है। इतिहास के हर काल में साम्राज्यवादी विदेशागतों ने पराधीन बनाये गये मूलनिवासियों के देश की संपदा-संसाधनों को अपने कब्जे में करने और उनको दास के रूप में इस्तेमाल करने का अपने-अपने तरीके से उद्योग

किया है। साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व भारत पर कब्जा जमाये आर्यों ने विजेताओं की स्वाभाविक आकांक्षा को पूरा करने के लिये वर्ण-व्यवस्था को माध्यम बनाया। ऐसे में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वर्ण-व्यवस्था को आरक्षण व्यवस्था के रूप में तब्दील करने से श्रेयक्रम उनके लिए कुछ और हो ही नहीं सकता था। सचमुच चिरकाल से ही भारत का अर्थतंत्र उस वर्ण-व्यवस्था में प्रवाहमान रहा है जो मूलतः संपदा संसाधनों की वितरण व्यवस्था है और जिसमें समाज के विभिन्न समूहों के आर्थिक कार्यकलाप आरक्षित रहे हैं।

भारत के इतिहास में संघर्ष का मूल मुद्दा : आरक्षण

वर्ण-व्यवस्था का आर्थिक स्वरूप जानने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि भारतवर्ष के इतिहास में अंतर्विरोध और संघर्ष का मूल मुद्दा आरक्षण ही रहा है। ऐसे में कहा जा सकता है कि कार्लमार्क्स के अनुसार अगर मानव जाति का इतिहास वर्ग संघर्ष और आर्थिक संघर्ष का इतिहास है तो विश्व के एकमात्र जाति समाज वाले देश भारत का इतिहास 'आरक्षण' पर संघर्ष का इतिहास है। लेकिन कार्लमार्क्स ने मानवजाति के इतिहास में मूल अन्तर्विरोध की पहचान करते हुए विश्व के इतिहास को आर्थिक संघर्ष पर वेंफद्रित करने की जो बौद्धिक कवायद की, वह निर्विवाद रूप से सत्य होने के बावजूद कुछ लोगों के लिए आपत्तिजनक भी हो सकता है। लेकिन दुराग्रह से परे अगर मुक्तभाव से भारत के इतिहास को परिभाषित किया जाय तो आरक्षण पर केंद्रित संघर्ष से भिन्न हो ही नहीं सकता। क्योंकि जिन-जिन खास विषयों को लेकर मानव-मानव में संघर्ष होता है भारत में वे सब चीजें वर्णवादी आरक्षण के संग अन्तर्ग्रन्थित रही हैं।

मसलन सामाजिक मर्यादा को लिया जाय। यह समय-समय पर संघर्ष का एक बड़ा मुद्दा बन जाती है। भारत में यह सामाजिक व मानवीय मर्यादा भी वर्ण-व्यवस्था (आरक्षण व्यवस्था) में अन्तर्निहित रही। जो सामाजिक समूह जितना ही उच्चतर वर्ण में अवस्थित रहता है, वह उतना ही इस लिहाज से समृद्ध है जबकि निम्नतर वालों की स्थिति विपरीत है। सामाजिक मर्यादा वर्णानुक्रम में आरक्षित रहने के कारण शूद्रातिशूद्र जितना भी आर्थिक उपलब्धि कर लें, वे कंगाल बाबाजी या बाबू साहेब के समक्ष नतमस्तक रहने के लिए बाध्य रहते हैं। भारत के जाति समाज को छोड़कर विश्व में अन्यत्र ऐसी स्थिति कतई नहीं रही। विश्वमय फैले श्रेणी समाजों में सामाजिक मर्यादा के निर्धारण में व्यक्ति/सामाजिक समूहों की आर्थिक उपलब्धि व उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की मात्रा ही निर्णायक रोल अदा करती रही है। इसलिए भारत के इतिहास में सामाजिक मर्यादा अगर संघर्ष का कोई मुद्दा रहा तो वह भी वर्णवादी आरक्षण से ही अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा।

अब आया जाय धर्म पर। भारत के वर्ण-व्यवस्थाधारित समाज में धर्म अगर संघर्ष का कोई मुद्दा रहा, तो वह भी आरक्षण से परे नहीं रहा। इस क्षेत्र में आरक्षण जबरदस्त तरीके से प्रभावी रहा है। वर्ण-धर्म अर्थात् हिन्दू धर्म को छोड़कर अन्यान्य

संगठित धर्मों में सबके लिए आध्यात्मानुशीलन का पूर्ण अधिकार के साथ-साथ; प्रयास करके मौलवी, फादर, ग्रंथी-ज्ञानी इत्यादि बनने का अवसर मुक्त रहा है, पर वर्णवादी समाज में नहीं। भारत में पंडा, पुरोहित, शंकराचार्य कौन बनेगा, यह अधिकार वर्णवादी आरक्षण से जुड़ा है। इस क्षेत्र में आरक्षण के सर्वशक्ति से क्रियाशील रहने के कारण शूद्र साधक विवेकानंद सर्वश्रेष्ठ धर्मज्ञ के खिताब से नवाजे जाने के बावजूद भारत के किसी धाम का शंकराचार्य न बन सके। यही नहीं धर्म के क्षेत्र में जारी आरक्षण के चलते इस देश की 80-90 प्रतिशत आबादी मोक्ष अर्थात् पारलौकिक सुख के लिए आध्यात्मानुशील के अवसर से धमदियों द्वारा पूरी तरह वंचित रही।

आज आध्यात्म के क्षेत्र में बाबा रामदेव, धर्मेन्द्र स्वामी जैसे शूद्रों; उमा भारती, ऋतम्भरा जैसी शूद्राणियों का उदय और देवालयों में कोटि-कोटि शूद्रातिशूद्र भक्तों की भीड़ देखकर कोई इस बात पर विश्वास नहीं करेगा कि हिन्दू धर्म उर्फ वर्णधर्म के अन्तर्गत आने वाली 85 प्रतिशत आबादी ही धार्मिक अनुशीलन के अधिकार से पूरी तरह वंचित है। पर यह सच्चाई है कि वर्ण-धर्म रामदेव और उमा भारती के भाई-बहनों को मोक्ष के लिए पूजा-पाठ की पूरी तरह मनाही करता है। अगर हिन्दू धर्मशास्त्रों में कुछ सच्चाई है तो पूजा-पाठ करने वाले शूद्रातिशूद्रों को नरक के सिवाय कुछ मिल ही नहीं सकता। शास्त्रों ने इन्हें मात्र तीन ऊपरी वर्णों के लोगों की निष्काम सेवा में ही मोक्ष ढूँढ़ने का निर्देश दे रखा है। लेकिन जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा छोड़कर राम, कृष्ण, वैष्णो देवी इत्यादि की सेवा कर पुलकित हो रहे हैं, वे सिर्फ आंबेडकर प्रवर्तित संविधान प्रदत्त अवसरों का दुरुपयोग कर रहे हैं। भारत में जब मैकाले की आईपीसी और डॉ. आंबेडकर का संविधान लागू होने के पूर्व मात्र मनु का संविधान प्रभावी था, तब तुकाराम, नंदनार, रैदासों को अपनी आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिए वैकल्पिक रास्तों का अवलम्बन करना पड़ा था।

हिन्दू धर्म में पिच्चासी प्रतिशत आबादी के लिए ही आध्यात्मानुशीलन की मनाही मानव सभ्यता के इतिहास की एक विरल घटना है। जो लोग यह मानते हैं कि आर्य विदेशी नहीं थे, वे जरा ऐसी निर्मम निषेधाज्ञा जारी होने के पीछे क्रियाशील मनोविज्ञान का खुलासा करें। इसके पीछे का मनोविज्ञान वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तकों की विदेशी मानसिकता की स्पष्ट झलक देता है। वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तकों ने, जो कि विदेशागत लोग थे, वर्णवादी आरक्षण के माध्यम से सारी भौतिक सुविधाएं आरक्षित करने के बाद, पराधीन बनाई गई पूरी मूलनिवासी समाज की भावी पीढ़ी को अपने वंशधरों की निःशुल्क सेवा में लगाने के लिए प्रावधान किया था कि शूद्र मोक्ष के लिए हरि सेवा नहीं, उच्चतर वर्णों की सेवा करे। पूरी दुनिया के इतिहास में पराधीन मूल निवासियों के साथ वैसा व्यवहार नहीं हुआ जैसा कि आर्य साम्राज्यवादियों ने किया। ईसाई और इस्लामी शासकों ने तो गुलाम बनाये गये लोगों को सत्ता तक भी सौंपा, पर आर्यों ने...

अब आया जाय नारियों पर। लोग कहते हैं मानव जाति के इतिहास में धन-धरती के बाद यौनकामना की सिद्धि के लिए नारियों के नाम पर सर्वाधिक खून बहे। अगर भारत में यह संघर्ष का मुद्दा रहा तो इसके तार भी हिन्दू आरक्षण से जुड़े हैं। वर्ण-व्यवस्था में अनुलोम विवाह की कठोरतापूर्वक निषेधाज्ञा और प्रतिलोम विवाह की शास्त्र सम्मतता के रास्ते ब्राह्मणों को निज वर्ण के साथ नीचे की तीन; क्षत्रियों को निज वर्ण के साथ नीचे की दो और वैश्यों को निजवर्ण के साथ शूद्रातिशूद्र समाज की महिलाओं को ही पत्नी/उपपत्नी बनाकर यौन लालसा चरितार्थ करने का अवसर प्रदान किया जाता रहा। इस मामले में 85 प्रतिशत वाले ऊपरी तीन वर्णों के लोगों को सिर्फ ईर्ष्या करने के लिए अभिशप्त रहे।

उपरोक्त तथ्यों की रोशनी में यह सुस्पष्ट है कि भारत में अन्तर्विरोध व संघर्ष के सारे के सारे मुद्दे चाहे सामाजिक हों, आध्यात्मिक या आर्थिक, हिन्दू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) से अन्तर्ग्रथित रहे। ऐसे में भारतवर्ष का इतिहास चीख-चीख कर कह रहा है कि यह आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है। वर्णवादी आरक्षण, जिसमें संपदा-संसाधनों, उच्चमान के लाभकारी पेशों; मोक्ष के लिए हरि सेवा के साथ बाबाजी, बाबू साहेब, सेठजी के रूप में अमापनीय सामाजिक मर्यादा सिर्फ हिन्दू आरक्षणवादियों के लिए रिजर्व रही, वह कैसे हजारों साल से अटूट रही है?

धन-धरती पर अधिकार अटूट रखने के लिए : वर्ण-शुद्धता का सिद्धांत

धन-धरती और तमाम भौतिक सुख सुविधाएं अपने वंशधरों को आरक्षित करने के लिए वर्ण-व्यवस्था के प्रवर्तक विदेशागत आर्य मनीषी सिर्फ कर्म-शुद्धता को अनिवार्य व कर्म-संकरता (पेशों की विचलनशीलता) को निषेध कर ही संतुष्ट न हो सके। उन्हें भय था कि दैविक दास में परिणत की गई मूलनिवासी आबादी सिर्फ नरक के भय से चिरकाल के लिए वितरणहीनता की स्थिति नहीं झेल सकती; समय आने पर वह खोई हुई संपदा-संसाधनों पर कब्जा जमाने के लिए संगठित होकर हिन्दू आरक्षणवादियों पर आक्रमण कर सकती है। ऐसे में उन्होंने कर्म शुद्धता के साथ वर्ण-शुद्धता का सिद्धांत भी रचा। वर्ण-व्यवस्था को प्रत्येक आक्रमण से पूर्णरूपेण सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने बहुत से सहायक उपादानों को सामाजिक व्यवस्था में तब्दील कर दिया। मूलनिवासी शूद्रातिशूद्रों के लिए शिक्षा व शस्त्र स्पर्श निषेध; नारियों के लिए सती-विधवा और बालिका विवाह प्रथा के साथ अतिशूद्रों के लिए अछूत प्रथा, जो परवर्तीकाल में विराट सामाजिक समस्याएं बनीं, का निर्माण महज वर्ण-व्यवस्था को दीर्घायु बनाने के लिए किया था। वर्ण-व्यवस्था को अमरत्व प्रदान करने वाले उपायों से जरूर सामाजिक समस्याओं का उद्भव हुआ, पर वास्तव में ये गौण रही हैं, मुख्य समस्या आर्थिक रही है। क्योंकि संपदा-संसाधनों पर कब्जा जमाने के लिए ही हजारों सालों से शूद्रातिशूद्रों और नारियों के मानवीय अधिकारों के साथ

होली खेली गयी। इस आरक्षण के वर्ण जाति/उपजाति में बंटे हिन्दू समाज को पूरी तरह प्रभावित करने के कारण भारत में जातीय संघर्ष का बोलबाला रहा एवं हजारों भागों में बंटे इस समाज के प्रत्येक विभाजन के मध्य परस्पर शत्रुता और घृणा की व्याप्ति रही; इसके कारण ही समग्र वर्ग की चेतना से कंगाल होने के लिए हिन्दू अभिशप्त हुए।

बहरहाल वर्ण-व्यवस्था के निर्माण के पीछे विदेशी आक्रान्ताओं की सम्पूर्ण भूमिका को देखते हुए हमारा मानना है कि इसे एक आरक्षण व्यवस्था का रूप देने के पीछे उनका मुख्य लक्ष्य संपदा-संसाधनों पर कब्जा जमाना और मूलनिवासियों को इससे पूरी तरह वंचित करना था। इसलिए उन्होंने भारत के पूरे अर्थतंत्र को प्राचीनतम् आरक्षण में प्रवाहमान बनाये रखने का सफल उद्योग किया। ऐसे में अगर मार्क्स यह कहते हैं कि मानवजाति का इतिहास वर्ग संघर्ष और आर्थिक संघर्ष का इतिहास है, तो वह यूनिवर्सल सच्चाई भारत में आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) पर संघर्ष में ही प्रतिबिम्बित होती है। अगर भारत में वर्ग की बात की जाय तो वह वर्ग यहां आर्य और मूलनिवासी, अल्पजन हिन्दू आरक्षणवादी और वंचित बहुजन समाज के रूप में दिखता है। बहुजनों और अल्पजनों के बीच संपदा और संसाधनों पर एक तरफ पुनः कब्जा जमाने और दूसरी तरफ कब्जे को बरकरार रखने का संघर्ष सदियों से होता आया है जिसकी शुरुआत बौद्ध भारत से होती है।

इतिहास बतलाता है कि भारत के अधिकांश उपजाऊ भू-भाग पर आधिपत्य कायम करने के बाद आर्यों ने वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था की मुक्कमल स्थापना कर शूद्रातिशूद्रों को दैविक दास बनाकर उन्हें निःशुल्क सेवक के रूप में परिणत कर लिया। वैदिक भारत में स्थापित वर्ण-व्यवस्था को पहली बार बलिष्ठ चुनौती बौद्ध भारत में मिली, जब गौतम बुद्ध के प्रयत्नों से वर्ण-व्यवस्था शिथिल हुई। वर्ण-व्यवस्था के शिथिल होने का मतलब सामाजिक, आध्यात्मिक और आर्थिक आरक्षण में शिथिलता आना हुआ। इसका प्रभाव इतिहास पर क्या पड़ा, यह सुप्रसिद्ध इतिहासकार एस.के. विश्वास की इस टिप्पणी में देखा जा सकता है— ‘करुणाधन बुद्ध का अबाध मुक्त ज्ञानानुशीलन मुक्त किया मानव के भाग्य विकास को। मुक्तज्ञान आत्मा का निर्वाण लाभ, युक्त किया ज्ञान के साथ प्रेम। इसलिए आर्यकृत ब्राह्मणवादी वर्ण-वित्त संरचित जड़ समाज के पास ही, अव्याहत रूप से ध्वनित हुआ जातिहीन मुक्त वित्त; युक्ति-विचाराधारित वस्तुवादी समाज का कर्म चांचल्य भरा गतिमय प्रेम संगीत। किसी जाति विशेष का कल्याण नहीं; विशेष दल व संप्रदाय की मुक्ति नहीं; बहुजन के हित के उद्देश्य से, बहुजन के सुख के लिए रचित हुआ एक महान् शक्तिमान समाज। उस समाज की उत्पन्न शक्ति विश्व को निर्मंत्रित कर अपने घर के विशाल आंगन में लाई। भ्रातृत्व, बन्धुत्व और प्रेम की मशाल जलाकर भारत विश्व के कोने-कोने में पहुंचा प्रेम प्रदीप प्रज्वलित करने के लिए। देखते ही देखते भारत समाज परिणत हुआ वृहत्तर भारत में; ध्यान ज्ञान के संग कर्म और धर्म के समन्वय

ने भारत को परिणत किया विश्व समाज में; बन्धुत्व हुआ विश्व भ्रातृत्व; वाणिज्य परिणत हुआ विश्व वाणिज्य में; राजनीति हुई विश्व राजनीति; विद्यालय रूपांतरित हुए विश्वविद्यालय में। आश्चर्यचकित होकर सारा विश्व बौद्ध भारत के चरणों के नीचे श्रद्धा अर्पित करने के लिए हुआ बाध्य।... बुद्ध के साम्य धर्म का रथचक्र दूरन्त गति से, समाज में सम्मान के अत्यन्त उर्ध्वस्तर में उड़ाकर ले गया आपामर, आर्य-पुत्रों की अवहेलना से बोधशून्य-अछूत निरादृत बहुजन समाज के नर-नारी को। उनका धम्मचक्र, समाज में आर्य उत्तरसूरियों के मस्तक को झुकाकर, बहुजन समाज को बराबर लाने का सार्थक प्रयास किया। यह समाज परिवर्तन नहीं; यह एक सामाजिक क्रांति थी।'

आरक्षण पर संघर्ष के चलते बौद्ध भारत तब्दील शुंग भारत में

लेकिन देश-प्रेम शून्य विदेशागत आर्यों को इस देश के धर्म को विश्व धर्म में, वाणिज्य को विश्व वाणिज्य में, राजनीति को विश्व राजनीति एवं विद्यालयों को विश्वविद्यालयों में परिणत होना अच्छा नहीं लगा। क्योंकि यह सामाजिक परिवर्तन नहीं, सामाजिक क्रान्ति हिन्दू आरक्षण के ध्वंस की बुनियाद पर हुई थी। हिन्दू आरक्षण के ध्वंस का मतलब देश की संपदा-संसाधनों को मुट्ठी भर आर्यों के हाथों से निकालकर मूलनिवासी बहुजनों के हाथ में ले जाना था। ऐसे में हिन्दू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) की पुनर्स्थापना की फिराक में बैठे आर्य पुष्यमित्र शुंग ने आखिरी बौद्ध राजा महानतम् सम्राट अशोक के वंशधर, बृहद्रथ की हत्या कर आर्यवादी सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा कर डाली। डॉ. आंबेडकर ने पुष्यमित्र शुंग की गद्दीनशीनी को फ्रांस की क्रान्ति से भी बड़ी घटना माना है। यह बौद्ध भारत की सामाजिक क्रान्ति के उलटा एक प्रतिक्रान्ति थी। आम इतिहासकार पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण को डॉ. आंबेडकर की भांति भले ही दूरगामी परिणाम देने वाला न मानते हों, पर सभी एक स्वर में कबूल करते हैं कि उसने वर्ण-व्यवस्था को दृढ़तर करने में अपनी सत्ता का भरपूर इस्तेमाल किया। वर्ण-व्यवस्था को दृढ़तर करने का मतलब यही हुआ कि उसने वर्णवादी आरक्षण को मजबूती प्रदान कर संपदा, संसाधनों, उच्चमान के पेशों में बहुजन समाज की भागीदारी को पुनः न्यून एवं अल्पजन विदेशागत आर्यों का एकाधिकार स्थापित कर दिया। फलतः बौद्ध भारत पूर्व की स्थिति में पहुंचने के लिए अभिशप्त हुआ। शुंगोत्तर काल में 647 ई. में वर्धनवंश के प्रसिद्ध राजा हर्ष के निधन के बाद देश छोटे-छोटे सामन्त-राज्यों में विभक्त हो गया। ऐसे में कलहरत भारत ने मुसलमानी शासन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। लेकिन सहस्राधिक वर्षों के लिए भारतवर्ष में जो इस्लामिक साम्राज्यवाद कायम हुआ, उसके भी पृष्ठ में आरक्षण की भूमिका ही सबसे प्रभावकारी रही।

इस्लाम भारत के निर्माण में हिन्दू आरक्षण की क्रियाशीलता

बौद्धोत्तर काल में पुष्यमित्र शुंग की प्रतिक्रान्ति के फलस्वरूप हिन्दू आरक्षण

के दृढ़तर होने के साथ-साथ पेशों की विचलनशीलता भी खत्म होती चली गयी। इससे बौद्ध भारत में विभिन्न पेशों में प्रतियोगिता का जो बड़ा मंच सजता रहा, वह संकुचित होता चला। फलतः विभिन्न क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं का उभरना बन्द हो गया। बौद्ध भारत में देश के आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, कला इत्यादि के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को स्पर्श करने के पीछे मूल कारण यही था कि वर्णवादी आरक्षण के टूटने के फलस्वरूप व्यवसाय-वाणिज्य, कला, राजनीति, ज्ञान इत्यादि सभी क्षेत्रों में ही सभी जाति/वर्णों के लोगों को अबाध रूप से प्रतियोगिता करने का अवसर मिला। इससे सभी क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं का उदय हुआ जिससे राष्ट्र ने विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को स्पर्श किया। किन्तु बौद्धोत्तर काल में हिन्दू आरक्षण के प्रभावी होते ही राष्ट्र ने यह अवसर गंवा दिया। अब विभिन्न क्षेत्रों में मात्र उन्हीं जातियों के लोग प्रतियोगिता करने लगे जो वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत उन पेशों के अधिकारी थे। ऐसे में दोगम दर्जे की प्रतिभाओं को ही उभरकर सामने आना था। विभिन्न क्षेत्रों की भांति सामरिक क्षेत्र भी इस त्रासदी से अछूता न रह सका। हिन्दू आरक्षण के प्रभावी होने के फलस्वरूप सामरिक क्षेत्र में विभिन्न जाति के मार्शल लोगों का प्रवेश निषिद्ध हो गया। फलतः सामरिक क्षेत्र को पूरी तरह निर्भर होना पड़ा परजीवी क्षत्रियों पर। क्षत्रिय, जो शस्त्रनिषिद्ध बहुजन समाज के बीच हथियारों से लैस होने के कारण खुद को जन्मजात योद्धा समझते रहे, जब शस्त्रसज्जित मुसलमानों के समक्ष हथियार लेकर युद्ध भूमि में आये तो घुटने टेकने के सिवाय और कुछ न कर सके। ऐसे में सहस्राधिक वर्षों के लिए भारत के इतिहास में इस्लामिक साम्राज्यवाद का जो अध्याय जुड़ा, उसके पृष्ठ में क्रियाशील रहा हिन्दू आरक्षण।

हिन्दू आरक्षण सिर्फ मध्ययुगीन विदेशागत मुसलमान विजेताओं के द्वारा भारत को गुलाम बनाने का कारण ही नहीं बना; इसके कारण इतिहास में एक विराट अपवाद भी घटित हुआ। वह था विदेशागत लोगों का अप्रतिरोध्य शासन। यह कल्पना कर बहुत से इतिहास प्रेमियों को आघात लगेगा कि जितने लम्बे समय तक भारत के मुसलमान शासकों का प्रतिरोधरहित शासन रहा, वह सम्भवतः मानव सभ्यता के इतिहास में एक विरल घटना ही है। इतने लम्बे समय तक किसी भी मुल्क में मुट्ठी भर विदेशागत लोगों ने निर्विघ्न शासन नहीं किया जैसा मुसलमान विजेताओं ने किया। लेकिन भारत में ऐसा हुआ तो उसके पीछे मूल कारण हिन्दू आरक्षण रहा।

एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में चमचमाती तलवार लेकर जिन मुसलमान विजेताओं ने भारत का इस्लामीकरण करने के लिए अरब के तपती रेगिस्तान से भारतभूमि पर कदम रखा, वे सच्चे मिशनरी नहीं थे। मरणोपरान्त जन्नत का सुख भोगने के लिए जो लोग जीवन को जोखिम में डालकर, धर्मान्तरण के मिशन पर निकले थे, वे भारत में जन्नत का साक्षात् रूप देखकर अपना मिशन भूल गये। अरब

की शुष्क मरुभूमि की ठंड और झुलसन पार कर भारत में जब मुसलमान विजेताओं ने उच्छल सिन्धु की जलतरंग; विस्तृत हरी-भरी लहलहाती फसलों के साथ सेब और दूसरे फलों के उद्यान तथा कुदरत का हुस्न देखा; तब उन्हें साक्षात् वहिश्त का दर्शन हुआ। विस्तृत, विस्तृत स्वर्गीय दृश्य-अल्लाह की स्वीकृत भूमि—वह वहिश्त जहां कल-कल करती नदियों के प्रवाह का मधुर संगीत, इच्छानुसार फल-मेवे परिवेशित होंगे और जहां उनकी सेवा में होंगी हूँ, ऐसे साक्षात् जन्नत से जब वे रू-ब-रू हुए तो इस्लामीकरण का लक्ष्य ही भूल गये। स्वर्ग की कल्पना सादृश्य भारतभूमि को पाकर जैसे आर्य यहां रह गये, वैसे ही वहिश्त को रू-ब-रू हासिल कर मुसलमान समरनायक भारत को छोड़कर नहीं गये। स्वर्ग राज्य दखल और शासन-शोषण कायम रखने के लिए जितना तलवार भांजना; तलवार की नोक पर दखल किये गये स्वर्ग-राज्य पर कब्जा बनाये रखने और पुश्त-दर-पुश्त शासन-सुख भोगने के लिए जितना युद्ध आवश्यक था, वही निपुणता के साथ मुसलमान आक्रमणकारियों ने किया। लेकिन यह सोचना भूल होगी कि महज यौद्धिक निपुणता के कारण सहस्राधिक वर्षों तक मुसलमानों का राज्य कायम रहा। दरअसल उन्होंने कूटनीतिक निपुणता का समान रूप से परिचय देते हुए ही अपने शासन को दीर्घायु बनाया।

मुसलमान विजेताओं ने भारतभूमि पर कब्जा जमाने के बाद, इत्मीनान से जन्नत का सुख भोगने के लिए पराधीन आर्यों से सन्धि कर ली। उनके शासन-सुख में पूर्ववर्ती शासक जातियां पूरणै या पंडित और मानसिंह बनकर सहयोग करती रहीं, इसके लिए उन्होंने हिन्दू आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था के कानूनों के अनुसार विशाल हिन्दू समाज को परिचालित करने की छूट दे दी। सामान्यतया मुसलमान काल का इतिहास लिखते हुए अधिकांश इतिहासकार इस तथ्य की अनदेखी करते रहे हैं कि उक्त काल में हिन्दू समाज स्मृतियों और शास्त्रादेशों के तहत परिचालित होता रहा। उनकी इस अनदेखी के कारण सामान्यतया लोग यही समझते हैं कि मुसलमान काल में हिन्दू समाज इस्लाम के कानूनों द्वारा शासित होता रहा। जिन्होंने इस तथ्य की तरफ ध्यान दिया उन्होंने भी स्मृतियों द्वारा समाज के शासित होने की बात को खास तरजीह नहीं दी। जबकि स्मृतियों का कानून लागू होने का मतलब यह था कि शुंगीतर काल में जिस तरह वर्ण-व्यवस्था की दृढ़ता के कारण मूलनिवासी संपदा और उच्चमान के लाभकारी पेशों से वंचित हुए, वह स्थिति मुसलमान भारत में अटूट रही या यों कहें वह निर्वाध गति से जारी रही। जबकि इस्लाम जैसे जात-पातहीन और समतामूलक धर्म के अनुयायी होने के नाते मुसलमान शासकों को वर्ण-व्यवस्थावादी कानूनों से हिन्दू समाज की मूलनिवासी निम्न जातियों को बचाना चाहिए था। लेकिन वे प्राचीन विदेशागत आर्यों के प्रतिरोध से खुद को यथासंभव बचाना चाहते थे, इसलिए स्मृतियों के विधानों के तहत हिन्दू समाज को शासित करने की दिशा में आगे बढ़े। इससे मुस्लिम साम्राज्य की छत्रछाया में हिन्दू साम्राज्यवाद, दुर्बल

स्थिति में ही सही, कायम रहा। हिन्दू साम्राज्यवाद कायम रहने से राष्ट्र की क्रीम का भोग तो मुसलमान शासक करते रहे, पर उनका छोड़ा सारा जूठन हिन्दू आरक्षणवादियों के हिस्से में आया। ऐसे में मध्ययुगीन और प्राचीन विदेशियों के मिलित शोषण से मूलनिवासी बहुजनों का श्रम ताजमहल, ऐशमहल, मंदिर-शिवालों में परिणत होता रहा एवं समय का पहिया धीरे-धीरे घूमता रहा। लेकिन मुसलमान विजेता हिन्दू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) के सहारे भले ही लम्बे समय तक शासन करते रहे, पर वह चिरस्थायी न हो सका।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है कि भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है, इसलिए अंग्रेज भारत के निर्माण में भी आरक्षण ने अपना रंग दिखाया। जिस प्रकार बौद्ध भारत में संपदा, संसाधनों और लाभकारी पेशों में मूलनिवासियों का वर्चस्व तोड़ने के लिए पुष्यमित्र शुंग ने तख्ता पलटकर इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया, उसी तरह हिन्दू आरक्षण से निजात पाने के नाम पर आधुनिक भारत में एक और तख्ता पलट का इतिहास रचित हुआ जिसके पीछे सक्रिय रहीं वर्ण-व्यवस्था की सर्वाधिक वंचित जातियां।

हिन्दू आरक्षण से निजात के लिए : ब्रिटिशराज का स्वागत

मानव सभ्यता के इतिहास का यह शाश्वत यथार्थ है कि व्यवस्था से सर्वाधिक पीड़ित समूह ही उसके ध्वंस के प्रति सबसे पहले अग्रसर होता है। भारत में भी इसका अपवाद नहीं हुआ। यूँ तो मुसलमान काल में भी समानांतर रूप से क्रियाशील हिंदू साम्राज्यवाद में बहुसंख्यक आबादी हजारों साल पूर्व की भांति ही सर्वहारा की स्थिति में थी। किन्तु इनमें भी असल सर्वहारा दलित थे, जो निःशुल्क दासत्व के लिए तो बाध्य किए ही गए थे, ऊपर से अस्पृश्यता का शिकार बनाकर नर-पशु (Human Cattle) में परिणत कर दिये गये थे। सैकड़ों समूहों में विभाजित अस्पृश्यों के कुष्ठक समूह हिंदू साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए लंबे समय से मौके की तलाश में थे। इन्हें मित्र के रूप में मिल गए अंग्रेज। अंग्रेजों को भी ब्राह्मण-मुस्लिम युक्त वाहिनी को हराने के लिए किसी ऐसे सहयोगी की जरूरत थी जिनमें मौजूदा शासकों के प्रति गहरा रोष हो। उधर 1756 में कई युद्धों में भाग लेने के कारण राजा चार्ल्स द्वितीय ने भारत में कार्यरत ईस्ट इंडिया कंपनी को इंग्लैंड से फौजी टुकड़ी भेजने की मनाही कर दी थी। ऐसे में स्वदेशी दुश्मनों के दो दुश्मन मित्र बनकर एक दूसरे के निकट आए। उनके युग्म शौर्य से जून 1757 में प्लासी के समरक्षेत्र में भारतीय फौज की पराजय के साथ ब्रिटिश साम्राज्य की नींव ही नहीं पड़ी; हजारों साल के जन्मजात सर्वहाराओं का भाग्योदय भी हुआ।

आधुनिक भारत के शिलान्यासी प्लासी युद्ध के अस्पृश्य समरवीरों ने अंग्रेजों के लिए नहीं, बल्कि अपनी मातृभूमि और अपने सदियों के सर्वहारा समाज की मुक्ति के लिए वह युद्ध लड़ा था। उनकी भूमिका का असर इतना सुदूर प्रसारी

था कि इतिहासकार एस.के. विश्वास को यह लिपिबद्ध करने में कोई दुविधा नहीं हुई—

‘14 अप्रैल 1891 को महू छावनी में मिलिट्री बैंड की धुन के मध्य जन्मे बच्चे का विकास आंबेडकर के रूप में हुआ था। कलकत्ता के फोर्ट विलियम में लिए गए उस संकल्प को पूरा करने के लिए, जिसकी शुरुआत बंदूक की नाल पर प्लासी के बैटल फील्ड में उनके पुरुखों ने की थी। यह इतिहास है कि सूबेदार मेजर रामजी सकपाल के पुत्र भीमराव आंबेडकर प्लासी युद्ध की संतान थे। वे उस प्रक्रिया के वाहक थे जिसकी शुरुआत 1757 में बंगाल के युद्ध क्षेत्र से हुई थी। वास्तव में डॉ. आंबेडकर, कांशीराम, कुमारी मायावती इत्यादि जो अनगिनत लोग सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई में व्यस्त हैं, वे सभी प्लासी युद्ध की ही संतान हैं। प्लासी मैदान में सामाजिक परिवर्तन के जिस पौधे को लगाया गया, वह आंबेडकर के वीर पुरुखों के रक्त से सींचा गया था।’

अंग्रेजों के सौजन्य से अस्पृश्य सैनिकों ने हथियार के सहारे सामाजिक परिवर्तन की जिस लड़ाई का आगाज प्लासी युद्ध से किया था, उसे 1818 में कोरेगाव युद्ध में अंजाम तक पहुंचाया गया जहां से ब्रिटिश एंपायर को पूर्णता मिली।

अंग्रेजों के सौजन्य से अस्पृश्यों के हथियार उठाने के ऐतिहासिक तात्पर्य का मूल्यायन करने में, बंदूक के बल पर सत्ता परिवर्तन का ख्याब देखने वाले भारतीय वामपंथियों ने भले ही कोई रुचि न दिखाई हो, पर खुद कार्ल मार्क्स ने कोई कमी नहीं की। उन्होंने लिखा है— 'The native army, organised and trained by the British drill sergeants, was the sine quanon of Indian self emancipation, and of India ceasing to be the prey of first intruders.'

वास्तव में मार्क्स ने First intruders (प्रथम घुसपैठियों) का उल्लेख कर यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि वह लड़ाई दरअसल हिंदू साम्राज्यवादियों के खिलाफ थी। भारत के प्रथम घुसपैठिये कौन...? आर्य ही तो Self emancipation (आत्म-मुक्ति) के इरादे से अस्पृश्यों की भूमिका को चिन्हित करने में मार्क्स ने जिस दूरदृष्टि का परिचय दिया, उसके हम उस समय और कायल हो जाते हैं जब देखते हैं कि उनकी भूमिका को आधार बनाकर ही डॉ. आंबेडकर अंग्रेजों को अपनी मांगें मनवाने के लिए मजबूर करते रहे। उन्होंने गोलमेज बैठकों से लेकर सत्ता हस्तांतरण के लिए आए केबिनेट मिशन के समक्ष बार-बार अस्पृश्य युद्ध नायकों के रोल को स्मरण कराया है। उन्होंने (डॉ. आंबेडकर) अंग्रेजों के समय मांग पत्र पेश करते हुए कहा है कि 'सत्ता संचालन में अस्पृश्य ब्रिटिश सरकार की दया नहीं चाहते। उनके लोगों को गवर्नेस में शेयर मांगने का दावा ठोकने का अधिकार है क्योंकि ब्राह्मण-मुस्लिमों के हाथ से देश जीतने में वे साझीदार रहे हैं।' लेकिन अंग्रेज भारत विजय के अपने पार्टनरों को उनका पूरा प्राप्य न दे सके। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ब्राह्मण साजिश कर मुसलमानों से पाला बदल करके और कौशलपूर्वक अस्पृश्यों को दूर सरका कर अंग्रेजों के खेमे में चले

गए।

ब्रिटिश शासकों के साथ ब्राह्मणों का तालमेल कई बातों से बना। मंदिरों को ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ में देने का काम स्वयं ब्राह्मण पंडे-पुजारियों ने किया जो इससे पहले स्थानीय राजाओं से भरण-पोषण और रख-रखाव का खर्च प्राप्त करते थे। जब पुरी, तिरुपति, कांचीपुरम आदि मंदिरों से कंपनी को लाखों रुपए की सालाना आमदनी होने लगी तो कंपनी ने इस उद्योग का खूब विस्तार किया। देवदासियों की प्रथा के कारण यह उद्योग ऐशगाहों के उद्योग के रूप में विकसित हुआ। कंपनी के शासनकाल में ही 17,15,586 रुपये सालाना मंदिरों के रख-रखाव तथा पुजारियों आदि के वेतन पर खर्च किया गया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रजा को जाति के बंधनों से भी मुक्त नहीं किया, बल्कि इन बंधनों की पकड़ को और अधिक मजबूत किया। जाति अदालतों को मान्यता देकर उन्होंने ब्राह्मण शास्त्रों की पकड़ और मजबूत की और इस प्रकार ब्राह्मणवाद को सुदृढ़ बनाया।

वर्ण-व्यवस्था के वितरणवादी स्वरूप पर आईपीसी का हमला

वैदिक भारत में कायम व बौद्धोत्तर काल में पुष्यमित्र शुंग व उनके पूर्ववर्तियों के सहारे जो हिंदू साम्राज्य मुसलमान काल में भी पतनशील अवस्था में बचा रहा, उसे शेष करने के प्लासी युद्ध नायकों के मंसूबों पर भले चालाक ब्राह्मणों ने पानी फेर दिया, लेकिन अस्पृश्यों का बलिदान पूरी तरह व्यर्थ नहीं गया। जन्मजात सर्वहाराओं का भाग्योदय हुआ, पर काफी विलंब से। फादर विलियम केरी और चार्ल्स ग्रान्ट के भारत सुधारवादी मंत्रों से लैस लार्ड मैकाले का भारत में एक फरिश्ते के रूप में आविर्भाव हुआ। इंग्लैंड छोड़ने के पूर्व लार्ड मैकाले ने ब्रिटिश पार्लियामेंट को संबोधित करते हुए बड़े क्षोभ के साथ कहा था, भारत में काजियों और पंडितों का कानून चलता है जो भारत के वृहत्तर हित में घातक है। मतलब मैकाले भारत के वृहत्तर हित में एक कानून की रूपरेखा तैयार कर अपने वतन से कूच किए थे। 6 अक्टूबर 1860 को पारित आईपीसी मैकाले की कल्पना का वह मूर्त रूप थी। सच पूछा जाए तो मैकाले की मानस कन्या आईपीसी (भारतीय दंड संहिता) का जन्म हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ सबसे बड़ी क्रांतिकारी घटना थी।

अंग्रेजों ने भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद आईपीसी लागू कर भारतीय समाज में जलजला मचा दिया। उन्होंने इसके द्वारा कानून की नजरों में सबको एक बराबर करके अर्थोपार्जन के सभी श्रोत, सभी के लिए मुक्त तो कर ही दिए, साथ ही एक ही अपराध के लिए दंड की मात्रा में भिन्नता के प्रावधान को पूरी तरह खत्म कर दिया। हिंदू कानूनों द्वारा निर्दिष्ट किए गए अर्थोपार्जन के लिए श्रोतों पर ऐसा हमला हुआ कि शूद्रातिशूद्रों के लिए शिक्षक, व्यवसायी, शासक-प्रशासक, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक इत्यादि बनने के सदियों से बंद दरवाजे खुल गए।

मैकाले ने ही भारत में हिंदू साम्राज्यवाद से लड़ने का मार्ग प्रशस्त किया है। अगर उन्होंने कानून की नजरों में सबको एक बराबर करने का उद्योग नहीं लिया

होता, डॉ. आंबेडकर, कांशीराम, मायावती, लालू प्रसाद यादव, चन्द्रभान प्रसाद, डॉ. संजय पासवान, डॉ. विवेक कुमार, वी.के. पाल, राजेन्द्र नागर, राजेन्द्र यादव, एस. के. विश्वास इत्यादि जैसे—ढेरों नेताओं, लेखकों, प्रशासनिक अधिकारियों इत्यादि का उदय नहीं होता। तब शूद्रातिशूद्रों को विभिन्न क्षेत्रों में योग्यता प्रदर्शन का कोई अवसर नहीं मिलता। कारण, तब भारत में मनु का कानून चलता। जिन हिंदू भगवानों और शास्त्रों का हवाला देकर वर्ण-व्यवस्था को विकसित किया गया था, आईपीसी ने एक झटके में उन्हें झूठा साबित कर दिया। सबसे बड़ी बात यह हुई कि वर्ण-व्यवस्था के द्वारा हिंदू साम्राज्य के सुविधाभोगी वर्ग के हाथ में देश की प्रायः संपूर्ण संपदा, पेशे आरक्षित करने का जो अर्थशास्त्र विकसित किया गया था, उसको एक झटके में मैकाले की आईपीसी ने खारिज कर दिया। लेकिन सदियों से अर्थोपार्जन के बंद पड़े जिन श्रोतों को मैकाले ने शूद्रातिशूद्रों के लिए भी मुक्त किया, उसका हिंदू साम्राज्यवाद में शिक्षा व धन-बल में उन्हें इतना कमजोर बना दिया गया था कि वे लाभ उठाने की स्थिति में ही नहीं रहे।

हिन्दू आरक्षण की काट के लिए बहुजनवादी आरक्षण हेतु संघर्ष

लार्ड मैकाले की आईपीसी ने वर्णवादी अर्थशास्त्र को ध्वस्त कर कागज पर जो सबके लिए समान अवसर सुलभ कराया उसका लाभ भले ही पूरा मूलनिवासी समाज न उठा पाया, किन्तु आईपीसी के समानतावादी कानून के जरिये कुछ बहुजन नायकों ने कठिनाई से ही सही, शिक्षा के अवसर का लाभ उठाकर हिन्दू आरक्षण की काट के लिए खुद को विचारों से लैस किया। ऐसे संग्रामी बहुजन नायकों के शिरोमणि बने ज्योतिबा फुले। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन दिनों श्रेणी समाज के सर्वहाराओं की मुक्ति के सूत्रों का तानाबाना तैयार करने में कार्ल मार्क्स अपनी बौद्धिक ऊर्जा क्षरित कर रहे थे, उन्हीं दिनों यूरोप में हजारों मील दूर भारत के पूना शहर में फुले जाति समाज के सर्वस्वहाराओं की मुक्ति का सूत्र रचने में निमग्न थे। जब सामाजिक क्रान्ति के पितामह ने सामाजिक परिवर्तन की बाधाओं के प्रतिकार में खुद को निमग्न किया तो उन्हें बाधा के रूप में नजर आई हिन्दू आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था। उन्होंने हिन्दू आरक्षण को सामाजिक परिवर्तन की बाधा और शूद्रातिशूद्रों की दुर्दशा का मूल कारण समझ कर उसके प्रतिकार के लिए एक वैकल्पिक व्यवस्था को जन्म देने का बन बनाया। उन्होंने मार्क्स को बिना पढ़े वर्ग-संघर्ष के सूत्रीकरण के लिए जाति/उपजाति के कई हजार समाजों में बंटे भारतीय समाज को आर्य और आर्येतर दो वर्गों में बांटने का बौद्धिक उपक्रम तो चलाया ही; इससे भी आगे बढ़कर कांटे से कांटा निकालने की जो परिकल्पना की, वह 'आरक्षण' रूपी 'औजार' के रूप में 1873 में 'गुलामगिरी' के पन्नों से निकल कर जनता के बीच आई। मूलनिवासी शूद्रातिशूद्रों की दशा में बदलाव के लिए फुले ने आरक्षण नामक जिस औजार का ईजाद किया, उसे 26

जुलाई 1902 को एक्शन में लाया शूद्र राजा शाहूजी महाराज ने। लेकिन पेरियार ने तो हिन्दू आरक्षण के ध्वंस और बहुजनवादी आरक्षण के लिए संघर्ष चलाकर दक्षिण भारत का इतिहास ही बदल दिया। 'दक्षिण एशिया के सुकरात' और 'वाइकोम के वीर' जैसे खिताबों से नवाजे गये 'थान्थइ' पेरियार ने हिन्दू आरक्षण में संपदा, संसाधनों और मानवीय अधिकारों से वंचित किये गये लोगों के लिए जो संघर्ष चलाया, उससे आर्यवादी सत्ता का विनाश और पिछड़े वर्गों को मानवीय अधिकार प्राप्त हुआ। मद्रास प्रान्त में उनकी जस्टिस पार्टी के तत्वावधान में 27 दिसम्बर 1929 को पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी नौकरियों में 70 प्रतिशत भागीदारी का सबसे पहले अध्यादेश जारी हुआ। यह अध्यादेश तमिलनाडु के इतिहास में Communal G.O. के रूप में दर्ज है। उसमें सभी जाति-धर्मों के लोगों के लिए उनकी आबादी के अनुपात में आरक्षण का प्रावधान था। भारत में कानून आरक्षण की वह पहली व्यवस्था थी।

इतिहास के महानतम् नायक : डॉ. आंबेडकर

अगर भारत का इतिहास वास्तव में आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है तो मानना ही पड़ेगा कि डॉ. आंबेडकर भारतीय इतिहास के महानतम् नायक रहे। उनका संपूर्ण जीवन ही इतिहास निर्माण के संघर्ष की महागाथा है। उन्होंने हिन्दू आरक्षण के खिलाफ स्वयं असाधारण रूप से सफल संग्राम चलाया ही, इसके लिए वैचारिक रूप से वर्ण-व्यवस्था के वंचितों को लैस करने के लिए जो लेखन किया वह भारतीय मनीषा के संपूर्ण चिन्तन पर भारी पड़ता है। वैदिकों ने मूलनिवासियों पर हिन्दू आरक्षण शास्त्रों के जोर पर नहीं शास्त्रों के बल पर धोपा था। शास्त्रों के षड्यंत्र से मूल निवासी शूद्रातिशूद्र दैविक दास (Divine Slave) में परिणत हो गये। दैविक गुलामी के कारण वे जहां संपदा, संसाधनों, पेशों और मानवीय मर्यादा पर सवर्णों के एकाधिकार को दैविक आशीर्वाद समझकर प्रतिरोध करने से विरत रहे, वहीं अपनी वंचना को ईश्वर का दण्ड मानकर चुपचाप पशुवत् जीवन झेलते रहे। डॉ. आंबेडकर ने एक कुशल मनोचिकित्सक की भांति मूलनिवासियों की मानसिक व्याधि (दैविक दासत्व) के दूरीकरण के लिए विपुल साहित्य रचा। चूंकि हिन्दू-धर्म में रहते हुए शूद्रातिशूद्र अपनी वंचना के विरुद्ध संघर्ष का नैतिक आधार खो देते हैं, इसलिए उन्होंने हिन्दू धर्म का परित्याग कर उस धर्म के अंगीकरण का उज्ज्वल दृष्टान्त स्थापित किया जिसमें मानवीय मर्यादा के साथ रुचि अनुकूल पेशे चुनने का अधिकार सबके लिए समान रूप से सुलभ था। विद्वान के साथ राजनेता आंबेडकर का संघर्ष भी उन्हें भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा कद प्रदान करता है।

बहुत से इतिहासकारों का मानना है कि भारत में 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के प्रणेता बालगंगाधर तिलक और उनके बन्धु-बान्धवों का कथित

स्वतंत्रता संग्राम वास्तव में हिन्दूराज के लिए संघर्ष था। अगर स्वतंत्रता संग्राम का लक्ष्य वास्तव में हिन्दूराज था तो मानना पड़ेगा कथित स्वतंत्रता संग्रामी पुनः उस आरक्षण के लिए ही संघर्ष कर रहे थे जो हिन्दू-आरक्षण यानी वर्ण-व्यवस्था में आर्इपीसी लागू होने के पूर्व सुलभ था। लेकिन एक तरफ जहां सवर्ण हिन्दूराज के लिए लड़ रहे थे, वहीं उन कथित स्वाधीनता संग्रामियों के प्रबल विरोध के मध्य डॉ. आंबेडकर का साइमन कमीशन के समक्ष साक्षी से लेकर गोलमेज बैठकों, पूना पैक्ट, और अंग्रेजों के अन्तरवर्तीकालीन सरकार में लेबर मेम्बर बनने तक का सफर आरक्षण पर संघर्ष के एकल प्रयास की सर्वोच्च मिसाल है। सचमुच भारत का स्वाधीनता संग्राम आरक्षण के मुद्दे पर आंबेडकर बनाम शेष भारत के संघर्ष का ही इतिहास है। जिन्हें संदेह है कि भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास नहीं है, वे जरा स्वाधीन भारत के इतिहास का सिंहावलोकन कर लें।

स्वाधीनोत्तर भारत का इतिहास : विशुद्ध आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास

आधुनिक भारत में हिन्दू आरक्षण की काट और सामाजिक परिवर्तन की धारा बहाने के लिए फुले ने आरक्षण नामक जिस औजार का आविष्कार किया, उसका सफल प्रयोग शाहूजी और पेरियार ने जरूर किया, पर, यह सबसे ज्यादा प्रभावी तब हुआ, जब डॉ. आंबेडकर ने उसके इस्तेमाल का व्यापकतर अवसर संविधान के द्वारा सुलभ कराया। वास्तव में अगर Sub Stream में पड़े लोगों को Main Stream में प्रविष्ट कराने वाला परिवर्तन ही सच्चा सामाजिक परिवर्तन कहला सकता तो डॉ. आंबेडकर प्रवर्तित आरक्षण ही उसके लिए प्रभावी औजार साबित हुआ। अगर जहर की काट जहर हो सकती है तो अमानवीय व परिवर्तनरोधी हिन्दू आरक्षण की काट आंबेडकरी आरक्षण ही हो सकती थी। हिन्दू आरक्षण के चलते जिन सब पेशों के अपनाने की कल्पना दलितों (अस्पृश्य-आदिवासियों) के लिए दुःसाहसपूर्ण सपना था, आंबेडकरी आरक्षण के चलते वे अब दुर्लभ नहीं रहे। हिन्दू ईश्वर व शास्त्रों द्वारा महज दासत्व के गुणों से भूषित किये गये मानवेत्तर स्वाधीन भारत में राजा, मंत्री, डॉक्टर, इंजीनियर, लेखक, प्रोफेसर आदि बनने लगे। धीरे-धीरे दलितों के मुख्यधारा से जुड़ने व सबलीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई।

लेकिन डॉ. आंबेडकर के एकल प्रयासों से समाज परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य होने के बावजूद आंबेडकरोत्तर भारत में समाज का चित्र लगभग पूर्ववृत्था। हजारों वर्ष पूर्व ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य से युक्त जिस समाज का देश की संपदा, संस्थाओं और उच्चमान के लाभकारी पेशों पर एकाधिकार था, स्वाधीन भारत में भी उसका सांस्कृतिक व आर्थिक स्रोतों पर लगभग 75-80 प्रतिशत अधिकार बरकरार था। ब्राह्मण की 'भू-देवता'; क्षत्रिय की जन अरण्य के 'सिंह' और वैश्यों की 'सेठजी' के रूप में सामाजिक मर्यादा अम्लान थी। 15 प्रतिशत से अधिक लोग कोर्ट-कचहरी, शहर और

शिल्प व्यवस्था, चिकित्सा और बाजार, फिल्म-टी.वी., प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक-मीडिया का लाभ उठाने की स्थिति में नहीं थे। 15 प्रतिशत वालों को छोड़कर बाकी जनता में 16-18 प्रतिशत लोग विधर्मी व म्लेच्छ रूप में उपेक्षित; 52 प्रतिशत पिछड़े-अतिपिछड़े अयोग्य रूप में विधोषित एवं साढ़े सात प्रतिशत लोग आदिवासी जंगली रूप में धिक्कृत व निंदित एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के समपरिमाण संख्यक लोग अछूत रूप से तिरस्कृत थे। कहने का मतलब स्वाधीन भारत में 85 प्रतिशत बहुजन समाज पर हिन्दू आरक्षण की काली छाया विद्यमान थी। आंबेडकरोत्तर भारत में हिन्दू आरक्षण के वंचितों के इस करुण चित्र ने मा. कांशीराम को बहुत गहराई से स्पर्श किया। जिस तरह वैदिकोत्तर भारत में मानवता का करुण चित्र देखकर उसके निदान के लिए गौतम बुद्ध ने गृह त्याग किया था, उसी तरह स्वाधीनोत्तर भारत में हिन्दू आरक्षण की काली छाया से बहुजन समाज को मुक्त करने के लिए कांशीराम ने शानदार नौकरी और सांसारिक जीवन का परित्याग किया। उन्होंने सत्ता, संपदा, संसाधनों और उच्चमान के लाभकारी पेशों में असमानता की खाई को पाटने के लिए 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी' की परिकल्पना की। ज्योतिबा फुले, नारायण गुरु, शाहूजी महाराज, पेरियार और डॉ. आंबेडकर के विचारों के सम्मिश्रण में सामाजिक परिवर्तन की अपनी निराली परिकल्पना तैयार करने वाले कांशीराम को हिन्दू आरक्षण की काली छाया से बहुजन समाज को मुक्त करने का चरम समाधान सत्ता दखल में नजर आया। उन्होंने इसके लिए बहुजनों की जाति चेतना की राजनीतिकरण पर काम करना शुरू किया।

आरक्षण के मुद्दे पर सृष्ट हुआ संघर्ष का एक और इतिहास

जाति चेतना के राजनीतिकरण की प्रक्रिया शुरू होते ही कलहरत बहुजनों में मानसिक बदलाव आने लगा। वे वैदिक भारत में अपने पुरुखों द्वारा खोये गये अधिकारों के पुनरुद्धार के लिए भ्रातृभाव लिये आर्यों की वर्तमान पीढ़ी के विरुद्ध धीरे-धीरे संगठित होने लगे। इधर हिन्दू आरक्षणवादियों के खिलाफ कांशीराम का राजनीतिक अभियान चल ही रहा था कि 7 अगस्त 1990 को ऐतिहासिक घटना घट गई। वे जिस मंडल की रिपोर्ट को राष्ट्र के समक्ष लाने के लिए अपने संगठन द्वारा विगत कई वर्षों से संघर्ष छेड़े हुए थे, वह अचानक नाटकीय रूप से जन समक्ष आ गई और रिपोर्ट प्रकाशित होते ही रच गया आरक्षण पर संघर्ष का एक और जबरदस्त इतिहास।

दरअसल जिस रिपोर्ट को तत्कालीन प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह ने आनन-फानन में प्रकाशित कर दिया, वह लम्बे समय से सत्ता में काबिज हिन्दू आरक्षणवादियों के षड्यंत्र का शिकार बनकर ठंडे बस्ते में पड़ी रही। पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की बुनियाद डॉ. आंबेडकर ने संविधान में धारा 340 का प्रावधान रचकर 26 जनवरी 1950 को ही, जब संविधान लागू हुआ रख दी थी। डॉ. आंबेडकर ऐसा करने के लिए अपने विवेक के प्रति प्रतिबद्ध थे। कारण जबसे उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन में खुद को समर्पित किया तब से ही उन्होंने

हिन्दू आरक्षण व्यवस्था का शिकार शूद्रातिशूद्रों को सार्वजनिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने का मामला उठाना शुरू कर दिया था। 1928 में जब साइमन कमीशन आया, उन्होंने अस्पृश्यों की ओर से निवेदन रखते हुए पिछड़ी जाति के नेताओं से अनुरोध किया था कि कांग्रेस के बहकावे में न आकर वे साइमन कमीशन के सामने पिछड़ी जातियों के पृथक एवं स्वतंत्र प्रतिनिधित्व की मांग रखें। किन्तु गांधी के अत्यधिक प्रभाव में होने के कारण पिछड़ों के अधिकारों की अनदेखी कर गये। बाबा साहेब आंबेडकर ने दलितों के अधिकारों का मामला देश में हो रहे राजनीतिक परिवर्तनों के साथ जोड़ा और उनके अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उनके इस संघर्ष के फलस्वरूप भारत को आजादी मिलने के साथ-साथ अनुसूचित जाति/जनजाति को आरक्षण के अधिकार मिले। अगर पिछड़ी जाति के नेताओं ने उस समय बाबा साहेब की बात मान ली होती तो दलितों के साथ-साथ पिछड़ों को भी अधिकार सुलभ हो जाते। और कोई उपाय न देखकर अंत में उन्हें पिछड़े वर्गों के लिए धारा 340 का प्रावधान रचकर संतोष करना पड़ा। 10 अक्टूबर 1951 को जब उन्होंने केन्द्रीय मंत्रिमंडल से इस्तीफा दिया, उसके पीछे हिन्दू कोड बिल के साथ ही पिछड़े वर्गों के आरक्षण का मामला भी क्रियाशील रहा। बहरहाल धारा 340 के तहत ही सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ी जातियों को आरक्षण प्रदान करने हेतु सर्वप्रथम काका-साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में 29 जनवरी 1953 को आयोग गठित किया गया जिसने अपनी रपट 30 मार्च 1955 को भारत सरकार को सौंप दी। काका साहेब कालेलकर पूना के ब्राह्मण थे। उन्होंने अपनी रपट में जाति के आधार पर पिछड़े वर्गों का आरक्षण देने के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की और रपट पर हस्ताक्षर भी कर दिया। किन्तु उन पर ब्राह्मण का हिन्दू आरक्षणवादी चरित्र हावी हो गया और उन्होंने सरकार को अलग से पत्र लिख कर जाति के आधार पर आरक्षण देने के सिद्धान्त का विरोध प्रकट कर दिया। इस अन्तर्विरोधी स्थिति का लाभ उठाते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू ने यह रपट ही खारिज कर दी। तब से पिछड़ों का मामला अधर में लटका रहा।

बाद में 1977 में पिछड़ों के आरक्षण की स्थिति तब अनुकूल हुई जब जनता पार्टी ने कांग्रेस को हराने के लिए अपने घोषणापत्र में कालेलकर आयोग के अनुसार पिछड़ी जातियों को आरक्षण देने का आश्वासन दे दिया। संयोग से जनता पार्टी चुनाव जीत गई और बात को टालने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने बी.पी. मंडल की अध्यक्षता में एक नये आयोग की स्थापना कर डाली। परन्तु जब तक इस आयोग की रपट प्रकाशित होती, जनता पार्टी सत्ता से बाहर हो गई और कांग्रेस दुबारा सत्ता में आ गई। कांग्रेस पार्टी मंडल रपट पर निर्णय लेने की बात किसी न किसी बहाने टालती रही। उसका रवैया देखकर कांशीराम रपट प्रकाशित कराने के लिए लगातार आंदोलन चलाते रहे। इस बीच 1989 में पुनः सत्ता परिवर्तन

हुआ। वी.पी. सिंह प्रधानमंत्री बने। प्रधानमंत्री बनने के कुछ अन्तराल बाद वे राजनीतिक संकट में घिर गये जिससे उबरने के लिए उन्होंने 7 अगस्त 1990 को मंडल की रपट प्रकाशित कर दी। यह इतिहास का एक परिहास ही कहा जायेगा कि पिछड़ों के जिस आरक्षण को रोकने में सवर्ण सत्ताधारी मुस्तैद रहे, उसका मार्ग सवर्ण जाति के ही एक नेता ने अप्रत्याशित रूप से प्रशस्त कर दिया।

बहरहाल मंडल की रपट प्रकाशित होते ही सवर्णों ने देश में कैसी स्थिति पैदा कर दी, यह सबने देखा है। वह किसी से छिपी नहीं है। सवर्ण युवक जहां आत्मदाह और राष्ट्र की संपदादाह में प्रवृत्त हुए, वहीं मीडिया ने इस आग को हवा देने में बढ़-चढ़ कर भूमिका अदा की। बाद में बहुत से बुद्धिजीवियों ने सफाई देते हुए कहा कि मंडल के खिलाफ आत्मदाह के उग्र प्रतिरोध से सामाजिक ध्रुवीकरण का जो माहौल पैदा हुआ, उसने पत्रकारों के विवेक को कुछ हद तक सीमित कर दिया। लेकिन यह एक अस्थायी भाव था; सुप्रीम कोर्ट ने जब मंडल के समर्थन में फैसला दिया तो अखबारों ने उसका गुणदोष विवेचन करके संतुलित रवैया अपनाया।

कुछ ने मीडिया में छाये मंडल विरोधियों की सफाई में कहा कि जब मंडलवादी आरक्षण का मुद्दा उठा तो पहले मंडल के उपयोगी पक्ष को समझ नहीं पाये और अन्यायपूर्ण मानकर कई पत्रकार विरोध पक्ष के साथ हो गये। पर दो-ढाई वर्ष के विचार मंथन के बाद अब जब उसे लागू करने की पक्की घोषणा की गई, तब लोगों ने अपनी भूल सुधार कर ली। लेकिन मंडल विरोधी सवर्ण युवकों और बुद्धिजीवियों के पक्ष में सफाई गाने वाले लोग भ्रांत थे। वे भारत के इतिहास से वाकिफ नहीं थे। उन्हें इस बात का इल्म ही नहीं था कि भारत का सदियों पुराना इतिहास आरक्षण पर केन्द्रित संघर्ष का इतिहास रहा है। सदियों से सवर्ण हिन्दुओं के दिलोदिमाग में शूद्रातिशूद्रों के अधिकारों के विरुद्ध संचित भावना का प्रकटीकरण ही मंडल के दिनों में हुआ था। मंडल के दिनों में हिन्दुओं का वह विरोध शूद्रातिशूद्रों के आरक्षण या किसी भी प्रकार के मानवीय अधिकारों के प्रति नफरत के स्थायी भाव का प्रकटीकरण था। और सवर्णों में अपने किये के प्रति कोई पश्चाताप नहीं था इसका साक्ष्य पिछले दिनों आईआईएम और आईआईटी में पिछड़ों के प्रवेश के आरक्षण के विरुद्ध उपजे हालात ने साबित कर दिया। वास्तव में मंडल-2 ने आंख में अंगुली करके दिखा दिया है कि भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का ही इतिहास है। मंडल-2 के दौर में सवर्णों की सबसे काबिल संतानें शहीदी तेवर के साथ पिछड़ों के आरक्षण के विरोध में सड़कों पर उतर आईं। उनमें बहुतों ने अपने शर्ट पर लिखा था, 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।' उनके उग्र तेवर देखकर कड़ियों ने गृहयुद्ध की आशंका तक व्यक्त कर डाली। आरक्षण के खिलाफ मर मिटने पर आमादा इन छात्र-छात्राओं के पीछे उनके अभिभावक, वकील व अधिकारी वर्ग तथा पूरी मीडिया लामबंद हो गयी। और तो और, सवर्ण बार बालाओं ने जिस्मफरोशी के द्वारा इन बहादुर आरक्षण विरोधियों को धन मुहैया कराने का ऐलान कर दिया था। यह सारा कुछ इस बात का सूचक रहा कि डेढ़ दशक पूर्व मंडल का उग्र विरोध करने वाले सवर्णों में हिन्दू

आरक्षण के वंचितों के प्रति कोई संवेदना विकसित नहीं हो पाई है।

मंडलवादी आरक्षण के विरुद्ध संगठित हुआ स्वाधीनोत्तर भारत का सबसे बड़ा आंदोलन

बहरहाल डेढ़ दशक पूर्व मंडल विरोध में सवर्ण छात्र-छात्राओं, उनके अभिभावकों बुद्धिजीवियों ने तो उग्र विरोध कर दुनिया को यह संदेश दे दिया कि वे सामाजिक विवेक से शून्य और दलित पिछड़ों के हकों के प्रति अनुदार हैं, पर हिन्दू आरक्षण (वर्ण-व्यवस्था) का पोषक व सवर्ण हितों का चैंपियन संघ परिवार ने तो इसके खिलाफ स्वीधीनोत्तर भारत का सबसे बड़ा आंदोलन ही संगठित कर दिया। मंडल की रपट प्रकाशित होते ही जहां सवर्ण छात्र आत्मदाह व राष्ट्र की संपदा दाह में जुट गये, वहीं संघ परिवार ने संग-संग रामजन्मभूमि मुक्ति का आंदोलन छेड़ दिया। बाद में इस आंदोलन को दूर से निहारने वाले स्वयंसेवी पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बड़े गर्व के साथ रामजन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन को स्वधीनोत्तर भारत का सबसे बड़ा आंदोलन करार दे दिया। बच्चों तक को मालूम है कि स्वीधीनोत्तर भारत का यह आंदोलन सिर्फ और सिर्फ मंडलवादी आरक्षण के खिलाफ संगठित हुआ था। रामजन्मभूमि आंदोलन के फलस्वरूप राष्ट्र की कई हजार करोड़ की संपदा और असंख्य लोगों की प्राणहानि हुई थी। परवर्ती काल में इसी के सहारे संघ परिवार केन्द्र की सत्ता पर काबिज हुआ और सत्ता का उपयोग उसने राष्ट्र की तीसरी गुलामी की जमीन तैयार करने में किया। कैसे? उसकी पृष्ठभूमि जान ली जाय।

प्राचीन काल में देवासुर संग्राम के बाद वर्ण-व्यवस्था के जिस अर्थतंत्र पर हिंदू साम्राज्यवाद शिखर पर पहुंचा और परवर्तीकाल में दो नव साम्राज्यवादियों द्वारा अधीन बनाए जाने के बावजूद भी अटूट रहा एवं जिसके विरुद्ध आधुनिक युग में सशस्त्र संग्राम प्लासी युद्ध से शुरू हुआ था, उस साम्राज्यवाद के ध्वंस का जबरदस्त सामान मंडलोत्तर भारत में जुटा। दलितों को वितरणहीनता से मुक्ति दिलाने के दूरगामी लक्ष्य को लेकर कांशीराम ने वर्ण-व्यवस्था में वितरणशून्यता की शिकार बनाई गई जातियों को संगठित करने व उनकी जातिचेतना का राजनीतिकरण करने की जो प्रक्रिया शुरू की, मंडल की रपट आने के बाद उसमें आश्चर्यजनक रूप में भारी उछाल आ गया। तब 6000 कलहरत जातियों के मध्य आरक्षण के साझा स्वार्थ के कारण जबरदस्त भाईचारा पैदा हुआ था। भाईचारे का मतलब हिंदू साम्राज्यवाद के सुविधाभोगी वर्ग के प्रति तीव्र आक्रोश। सदियों की वर्ण-व्यवस्था में वंचना की पीड़ा सर्वहाराओं में इस कदर पूंजीभूत हुई कि चुनाव जीतकर सत्ता में पहुंचना सुविधाभोगी जातियों के लिए दुष्कर हो गया। जिस आरक्षण ने वंचितों की एकता का आधार बनकर हिंदू साम्राज्यवादियों की सत्ता की जमीन को दरकाना शुरू किया था, उसके खिलाफ तरह-तरह के दाह से लेकर धर्म तक प्रयोग पर सबसे सफल हुई चाणक्य नीति।

हिंदू साम्राज्यवाद के लिए नवसाम्राज्यवाद का स्वागत

अटल जी जिन्हें आदर से गुरुघंटाल कहते हैं वे नरसिंह राव जी आधुनिक चाणक्य के रूप भी मशहूर रहे। हाथ में क्षमता आने पर आधुनिक चाणक्य ने आरक्षण विरोध का दृष्टिकटु प्रदर्शन न करते हुए चाणक्य नीति के सूत्रों का अवलंबन किया। प्राचीन चाणक्य ने रास्ते में पड़ी कटीली घास (कुश) को ऊपर से न काटकर समूल नष्ट करना ही श्रेयकर समझा था। आधुनिक चाणक्य ने प्राचीन चाणक्य नीति का अनुसरण करते हुए, हिंदू आरक्षण के मखमली मार्ग में उभरी कटीली घास जैसी आंबेडकरी आरक्षण का चुपचाप समूल नष्ट करने की परिकल्पना की। क्योंकि संयोग से उन्हें भूमंडलीकरण नामक मट्ठा मिल गया था। मट्ठा का प्रयोग करते देख दलित बुद्धिजीवियों का माथा तो ठनका, पर अटल जी के हाथों में सत्ता की बागडोर पहुंचते ही वे पुनः आश्वस्त होकर सामाजिक चेतना के प्रसार में जुट गए। क्योंकि उन्हें लगा स्वदेशी के परम हिमायती राष्ट्रवादी अटलजी 'मट्ठे' का प्रयोग नहीं करेंगे लेकिन सत्ता हाथ में आते ही वे अपने गुरुघंटाल को बौना करने में जुट गए। उन्हें डर था कि पक्ष-विपक्ष में बैठे आरक्षित वर्ग के संख्या गरिष्ठ सांसद, कहीं कटीली घास की रक्षा के लिए उन्हें ही सत्ताच्युत न कर दें। इसलिए अपनी पहली बार की 13 दिवसीय पाली में एनरान को वरदान देने वाले अटल जी ने सबसे पहले 1429 वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिया जबकि वे इसे और दो सालों के लिए टाल सकते थे। अपने गुरुघंटाल के अधूरे पड़े काम को जल्द पूरा करने के लिए उन्हें चाहिए था ऐसा कोई योग्य सहयोगी जिसके दिल में आरक्षण शूल की भांति चुभ रहा हो। ऐसे व्यक्ति के रूप में अरुण शौरी से बेहतर सहयोगी उन्हें कहां मिलता! वर्शिपिंग फॉल्स गाड्स के प्रकाशन के बाद दलितों से मिली भत्सर्ना व लांक्षन का प्रतिशोध लेने की ताक में शौरी भी थे। अतः दलितों की भावना को नजरअंदाज करते हुए शौरी को अपनी टीम में शामिल करने में अटल जी ने काल विलम्ब नहीं किया। आरक्षण के खात्मे के लिए शौरी जैसे जहीन व्यक्ति का चयन कितना निर्मूल निर्णय था, इसका साक्षी इतिहास है।

वास्तव में भूमंडलीकरण एक वैश्विक परिघटना होने के बावजूद मंडलोत्तर भारत में जिस तरह इसके विरोध में सारी हदें तोड़ने वाले महान नेताओं तक ने इसके लागू करवाने में भारी तत्परता दिखलायी है, उसे एक साजिश से भिन्न देखना एक महज चक्रांत का सरलीकरण करना होगा। इस विषय में प्रसिद्ध समाजविज्ञानी रजनी कोठारी की यह निम्न टिप्पणी हमारी बात का ही समर्थन करती प्रतीत हो रही है।

“जनता अपनी तरफ से राज्य पर दबाव डाल रही है कि वह ऐसा न करे। यह दबाव जातीय और क्षेत्रीय आंदोलनों के साथ-साथ लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए चलाए जा रहे वर्ग और जाति आधारित संघर्षों के रूप में देखा जा रहा है। पर समस्या यह है कि ठीक इसी समय राज्य की बागडोर संभालने वालों ने तकरीबन नियोजित रूप से अपनी पकड़ ढीली कर दी है। सामाजिक और क्षेत्रीय दायरों के प्रति उनका

सरोकार कम पड़ गया है। एक तरफ राज्य की पुर्नसंरचना होने की कोशिश हो रही है, दूसरी तरफ राज्य अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों से मुंह चुरा रहा है।'

बहरहाल रजनी कोठारी ने जो इशारा किया है कि राज्य ने नियोजित रूप से अपनी पकड़ ढीली कर दी; संवैधानिक जिम्मेदारियों से मुंह चुराना शुरू किया और भूमंडलीकरण के दौर में इच्छाकृत रूप से कमजोर हो गया, वह सिर्फ और सिर्फ आरक्षण के खात्मे के लिए ही। इसमें वाजपेयी एण्ड कंपनी का कमजोर पड़ना काफी हैरानी की बात रही। कारण ये लोग गला फाड़कर खुद को राष्ट्रवादी व स्वदेशी का हिमायती घोषित करते रहे थे यही नहीं भूमंडलीकरण के प्रभावों से देश को आगाह करते हुए अस्सी के दशक से ही ये राष्ट्रवादी कहते रहे कि अब जो आर्थिक स्थितियां व परिस्थितियां बन या बनाई जा रही हैं, उसके फलस्वरूप देश आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बन जायेगा। तब हमें राजनीतिक आजादी की तरह आर्थिक आजादी का दूसरा स्वातंत्र्य युद्ध लड़ना पड़ेगा।

लेकिन वही राष्ट्रवादी जब सत्ता में आये तो उन्होंने बाकायदे विनिवेश मंत्रालय का निर्माण कर सरकारी उपक्रमों को औने-पौने दामों में बेचने में जुनून की हद तक मुस्तैदी दिखलाया। यहां तक कि उनके निशाने पर देश की सुरक्षा तक से जुड़े सरकारी उपक्रम भी आ गये। ऐसा क्यों कर हो गया कि जो राष्ट्रवादी अस्सी के दशक में विदेशियों की आर्थिक गुलामी की आशंका से मरे जा रहे थे, वे डेढ़ दशक बाद वैसी परिस्थितियों के निर्माण में जुट गये। इसका कारण और कुछ नहीं सिर्फ भारतीय इतिहास की वह अभ्रान्त सच्चाई है कि भारत का इतिहास आरक्षण पर संघर्ष का इतिहास है। आरक्षण पर संघर्ष के कारण जो मुल्क लगभग सहस्राधिक वर्षों तक मुसलमानों और ईसाइयों का गुलाम रहा, 21वीं सदी में पुनः वह आरक्षण पर संघर्ष के कारण ही विदेशियों का गुलाम बनने जा रहा है। आज भारत की भावी आर्थिक स्थिति के विषय में बड़े-बड़े दावे किये जा रहे हैं। कहा जा रहा है कि कुछ दशकों के मध्य ही भारत आर्थिक क्षेत्र में एक विश्वशक्ति बनने जा रहा है। मूर्खों के स्वर्ग में वास करने वाले अर्थशास्त्री और बुद्धिजीवी भविष्य की अप्रिय तस्वीर देखकर भी आंखे मूंदे हुए हैं। सच तो यह है कि आने वाले कुछ दशकों के मध्य ही देश के समस्त सार्वजनिक उपक्रम स्वदेशी उद्यमियों के हाथों होते हुए बहुराष्ट्रीय निगमों के स्वामित्व में चले जायेंगे; हमारे उद्योगपति मैनुफैक्चरर्स से ट्रेडर में बदल जायेंगे और बचे-खुचे कुटीर उद्योग हो जायेंगे पूरी तरह निष्प्राण। उस समय तक जमींदारी उन्मूलन के सहारे भूस्वामी बने पिछड़े भी विदेशी जमींदारों को अपनी जमीनें बेचकर कृषि मजदूर के रूप में कार्य करने की मानसिकता विकसित कर चुके होंगे। तब क्रीम विदेशी ले जायेंगे और उनके द्वारा छोड़े गये जूठन पर हक जमाने के लिए कलहरत हिन्दुस्तानी आपस में संघर्ष करेंगे। इन सारी परिस्थितियों के लिए जिम्मेवार होगी परजीवी हिन्दू आरक्षणवादियों की स्वार्थपरता।

इतिहास के गर्भ से निकला डाइवर्सिटी का मुद्दा

बहरहाल जब मंडलोत्तर भारत में आधुनिक भारत के चाणक्य नरसिंह राव ने 24 जुलाई 1991 को नई वैश्विक अर्थनीति (रणनीति) ग्रहण की, तब शूद्रातिशूद्रों के मन में यह आशंका पैदा हुई कि यह सारा कुछ आरक्षण के खात्मे के लिए किया जा रहा है। ऐसे में उनमें निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग कुंडली मारने लगी। धीरे-धीरे कई संगठन निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग को लेकर सड़कों पर उतरने लगे। और जब राष्ट्रवादी अटल बिहारी वाजपेयी सत्ता में आकर अपने गुरु नरसिंह राव को बौना साबित करने का लक्षण दिखाने लगे, तब मूलनिवासी शूद्रातिशूद्रों को शतप्रतिशत विश्वास हो गया कि सत्ता पर काबिज हिन्दू आरक्षणवादियों का एकमेव लक्ष्य आंबेडकरी आरक्षण को महज कागज तक सिमटा देना है। तब निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग शोर में बदलने लगी। सभा, सेमिनारों, पत्र-पत्रिकाओं में यह नई मांग अधिक से अधिक स्पेस बनाने लगी। और समस्त आर्थिक गतिविधियों को निजी हाथों में सौंपने पर आमादा अटलजी जब 31 मार्च 2003 तक समय रहते 31 मार्च 2001 तक ही 1429 वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाने के बाद, चरम आंबेडकर विरोधी अरुण शौरी को विनिवेश मंत्री बनाकर सरकारी उपक्रमों को औने-पौने दामों में बेचने की दिशा में तेजी से आगे बढ़े, उन्हीं दिनों चन्द्रभान प्रसाद और उनके कुछ सहयोगियों के सौजन्य से भारतीय बौद्धिक क्षितिज पर सर्वव्यापी आरक्षण वाली डाइवर्सिटी का उदय हुआ। बाद में इनके ही उद्योग और अब्राहम लिंकन जैसे संवेदनशील हृदय के स्वामी व मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह के सक्रिय सहयोग से 12-13 जनवरी 2002 को दलित बुद्धिजीवियों का महासम्मेलन अनुष्ठित हुआ। दो दिन के भारी विचार मंथन के बाद उस सम्मेलन से इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों से निबटने और सामाजिक परिवर्तन की धारा को तीव्रतर करने के उद्देश्य से 'डाइवर्सिटी' पर केन्द्रित 21 सूत्रीय दलित एजेंडा जारी हुआ जिसे भोपाल घोषणापत्र भी कहते हैं। भोपाल घोषणा को दलित मुक्ति का चार्टर मानते हुए तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति के.आर.नारायणन ने इसे अपनाने की अपील राष्ट्र के समक्ष कर डाली। घोषित तौर पर भोपाल घोषणा इक्कीसवीं सदी की चुनौतियों से निबटने का 21 सूत्रीय एजेण्डा था। पर, सच तो यह है कि कई हजार वर्ष पूर्व वैदिक मनीषियों ने वर्ण-व्यवस्था (हिन्दू आरक्षण) के सूत्रों द्वारा मूल निवासियों के समक्ष जो पहाड़ समान समस्याएं खड़ी की थीं, इक्कीसवीं सदी में उसी का मुकम्मल प्रतिकार था— डाइवर्सिटी केन्द्रित दलित एजेण्डा। यह आरक्षण के संघर्ष पर केन्द्रित भारत के इतिहास में सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण अध्याय का आगाज था।

2002 की जनवरी में भोपाल कान्फ्रेंस के बाद डाइवर्सिटी ने बड़े पैमाने पर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया था। पर, लोग शकित थे कि क्या वंचितों को राष्ट्र की प्रत्येक गतिविधियों में हिस्सेदारी दिलाने वाली डाइवर्सिटी कभी लागू हो पायेगी?

किन्तु जब 27 अगस्त 2002 को मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह ने सरकारी आदेश से सप्लायर डाइवर्सिटी की शुरुआत की तब आरक्षण के खात्मे की आशंका से भयाक्रान्त ढेरों दलितों में एक नयी उम्मीद का संचार हुआ। फिर तो ढेरों व्यक्ति और संगठन अपने-अपने तरीके से डाइवर्सिटी आंदोलन को आगे बढ़ाने में जुट गये। नेताओं में जहां डॉ. (प्रो.) संजय पासवान ने इस मुद्दे पर पहली बार संसद का ध्यान आकर्षित करने के बाद डाइवर्सिटी पर कई संगोष्ठियां आयोजित कीं, वहीं बीएस-4 के राष्ट्रीय अध्यक्ष मा. आर.के. चौधरी ने 'निजी क्षेत्र में आरक्षण, अमेरिका के डाइवर्सिटी पैटर्न पर' को अपनी राजनीतिक पार्टी का एकसूत्रीय एजेण्डा बनाकर डाइवर्सिटी के पक्ष में अलख जगाना शुरू किया। भोपाल घोषणा से प्रेरित होकर कई संगठनों ने डाइवर्सिटी केन्द्रित मांगपत्र जारी किया। इस बीच कई डाइवर्सिटी संघर्ष समितियां भी अस्तित्व में आईं जिनमें दिल्ली डाइवर्सिटी ग्रुप और उत्तर प्रदेश डाइवर्सिटी ग्रुप स्वयं चन्द्रभानजी की देखरेख में गठित हुआ। लेकिन परिणाम क्या निकला?

27 अगस्त 2002 को मध्य प्रदेश में सप्लायर डाइवर्सिटी लागू होने के बाद लगा राज्यों और केन्द्र की सरकारें निकट भविष्य में सर्वव्यापी आरक्षण लागू कर देगी; वर्ण-व्यवस्था के सर्वहारा सरकारी और निजी क्षेत्र की सभी स्तर की नौकरियों के साथ देश के करोबार में हिस्सेदारी पा जायेंगे। पर हुआ क्या! राज्यों से लेकर अटल की केन्द्र सरकार भेड़चाड़ की तरह निजी क्षेत्र, जिसमें महज 81 लाख नौकरियां हैं, में बहुजनों को प्रतिनिधित्व दिलाने की चर्चा में उलझाये रखीं। हां, कांग्रेस पार्टी ने रह-रहकर निजी क्षेत्र की नौकरियों के साथ उद्योग-व्यापार में अवसर सुलभ कराने की बात अपने पिछले चुनावी मैनिफेस्टो में जाहिर की। पर सत्ता में आने के बाद उसने जिस ढुल-मुल रवैये का परिचय दिया है, उससे आज की तारीख में लगता है वह सब्जबाग दिखाते हुए डाइवर्सिटी को अपने अगले मैनिफेस्टो के लिए सुरक्षित रखना चाहती है। इस बीच डाइवर्सिटी आंदोलन को एक बड़ी सफलता मिली। प्राइवेट सेक्टर में रिजर्वेशन के सवाल पर गत 28 जुलाई 2006 को भारतीय उद्योग परिसंघ (सीआईआई) और एसोचैम की संयुक्त टास्क फोर्स की रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें अफर्मेटिव एक्शन प्लान का ब्लू प्रिंट पेश किया गया है। इस एक्शन प्लान को तैयार करने की जिम्मेदारी टाटा समूह की होल्डिंग कंपनी टाटा सन्स के निदेशक डॉ. जे.जे. ईरानी को सौंपी गई थी। श्री ईरानी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि सभी निजी क्षेत्र की कंपनियां एससी/एसटी वर्ग के लोगों को अपने यहां नौकरी देने के लिए विशेष अभियान चलायेंगी। सभी कंपनियों को अपनी सालाना रिपोर्ट में साफ तौर पर बताना होगा कि उन्होंने पिछड़े वर्ग के कितने उम्मीदवारों को अपने यहां नौकरी दी। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि सीआईआई-एसोचैम हर साल 100 दलित उद्यमी भी पैदा करेगा। इस वर्ग के लोगों की तरफ से चलाये जा रहे लघु उद्योगों से माल

खरीदेंगे बड़े उद्योग। रिपोर्ट में यह भी साफ तौर पर कहा गया है कि भारतीय इंडस्ट्री किसी कोटे या रिजर्वेशन के पक्ष में नहीं है। अगर सरकार ने ऐसा कोई कानून लागू किया तो यह इंडस्ट्री की उत्पादकता और कॉम्पिटिशन की क्षमता को नुकसान पहुंचायेगा। रोजगार के मामले में चयन की अपनी आजादी पर इंडस्ट्री कोई समझौता नहीं करेगी।

बहरहाल हम कुछ अन्य कारणों से डॉ. ईरानी की रिपोर्ट से बहुत आशावादी नहीं हैं। इतिहास बतलाता है कि वर्ण-व्यवस्था के वंचितों को आज तक जो कुछ भी मिला है, सिर्फ कानून के सहारे ही। यही नहीं सवर्णों को जब भी किसी अच्छे काम में प्रवृत्त किया गया है तो कानून के सहारे ही। क्योंकि उनमें सामाजिक विवेक नहीं है। अब जहां तक अमेरिका के अफर्मेटिव एक्शन द्वारा रूपायित होने वाली डाइवर्सिटी का सवाल है उसके लिए सबसे जरूरी है सामाजिक विवेक। चूंकि सामाजिक विवेक के मामले में अमेरिकी गौरा प्रभुवर्ग बहुत समृद्ध है इसलिए वहां अफर्मेटिव एक्शन प्रोग्राम सफल हो गया। ऐसे में हमारे प्रभुवर्ग की सामाजिक विवेक की दरिद्रता के कारण भारत में डाइवर्सिटी को अफर्मेटिव एक्शन प्लान के रूप में सफल होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। डाइवर्सिटी के देश अमेरिका से महज प्रेरणा लेकर डाइवर्सिटी को रूप देना पड़ेगा सर्वव्यापी आरक्षण वाली एक नीति का। इस सर्वव्यापी आरक्षण को लागू करने के लिए जरूरत पड़ेगी कानून की और कानून बनाने के लिए जरूरत पड़ेगी राजसत्ता के हस्तक्षेप की।

राज्यों से लेकर केन्द्र सरकारों की डाइवर्सिटी के प्रति भयावह अरुचि; अफर्मेटिव एक्शन प्लान को कोटे में तब्दील करने में उद्योग चैम्बरों की भारी अनिच्छा और मौजूदा विकास दर में बहुजनों के नगण्य भागीदारी सहित लगभग आधे दर्जन अन्यान्य कारणों ने हमें भागीदारी दर्शन के महानायक कांशीराम के जन्मदिवस पर बहुजन डाइवर्सिटी मिशन की स्थापना के लिए बाध्य किया।

अध्याय-2

बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का उद्देश्य

चूंकि बीडीएम भी यह मानता है कि मानव समाज की आर्थिक विषमताएं ही वह मर्ज है, जिसके कारण मानव समाज में दूसरी विषमताएं और असह्य वेदनायें देखी जाती हैं तथा भूमण्डलीकरण के दौर में भारत में यह और बिकराल रूप धारण करेगी इसलिये इसका एकमात्र लक्ष्य देश में सदियों से व्याप्त आर्थिक गैर-बराबरी दूर करना है। इसके लिये यह मुख्य रूप से मूलनिवासियों (दलित-पिछड़े व इनसे धर्मान्तरित) को उनकी संख्यानुपात में शासन-प्रशासन और देश के कारोबार में भागीदारी दिलाने के उपायों पर कार्य करेगा।

चूंकि वर्णव्यवस्था के संपदा-संसाधनों और पेशों के वितरणवादी चरित्र के कारण ही देश में आर्थिक विषमता ने बिकराल रूप धारण किया है इसलिए बीडीएम मानता है कि वर्ण/जाति मुख्यतः आर्थिक समस्या है। ऐसे में बीडीएम आर्थिक विषमता के दूरीकरण के मोर्चे पर पूरी तरह मुस्तैद रहने के कारण जाति के विनाश और धर्मान्तरण इत्यादि जैसे अमूर्त मुद्दों से विरत रहेगा। हां, जो लोग जाति को मुख्यतः सामाजिक समस्या मानकर ऐसे सामाजिक कार्यों में लगे हैं, उन्हें यह अपना नैतिक समर्थन देते रहेगा। और यह भी कि बीडीएम से जुड़ा कोई भी सदस्य व्यक्तिगत रूप से सामाजिक कार्यों में सक्रिय भागीदारी के लिए स्वतंत्र रहेगा।

आर्थिक विषमता को खत्म करने के लिए अधिकांश संगठन व्यवस्था परिवर्तन और राजसत्ता दखल करने पर जोर देते रहे हैं। चूंकि बीडीएम कोई क्रांतिकारी संगठन नहीं है इसलिए यह व्यवस्था-परिवर्तन और सत्ता दखल जैसे भारी भरकम काम करने वाले संगठनों को तो अपना नैतिक समर्थन देता रहेगा, पर खुद ऐसे कार्यों से विरत रहेगा। बीडीएम इसलिए भी विरत रहेगा क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि व्यवस्था परिवर्तन और सत्ता दखल करते-करते भूमण्डलीकरण की अर्थनीति मूलनिवासियों के समक्ष अस्तित्व रक्षा का विराट संकट खड़ा कर देगी। ऐसे में मौजूदा व्यवस्था और विश्व व्यापार संगठन की शर्तों में जकड़े आर्थिक हालात में ही यह अपने लक्ष्यों को हासिल करने की राह निकालेगा।

आर्थिक विषमता की दूरीकरण के लिए कई राजनीतिक विचारों के क्रान्तिकारी संगठन, शोषकों से धन-धरती जबरन छीन कर शोषित के मध्य वितरित कर देने की न सिर्फ वकालत बल्कि कार्यरूप देने का प्रयास करते हैं। पर, जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि बीडीएम कोई क्रांतिकारी संगठन नहीं है इसलिये यह व्यवस्था परिवर्तन और सत्ता दखल की भांति ही व्यवस्था के सुविधाभोगी और संपदा-संसाधनों और तमाम आर्थिक स्रोतों पर 75-80 प्रतिशत कब्जा जमाये 15 प्रतिशत सवर्ण वर्ग की धन-संपत्ति छीनने की न तो कोई वकालत न ही परिकल्पना करेगा। हां, उन्हें उनकी संख्यानुपात में अर्थोपार्जन के समस्त अवसरों तक सीमित रखने में अपनी सर्वशक्ति जूर

लगायेगा। क्योंकि बीडीएम सिर्फ और सिर्फ विविधतामय भारत के चार सामाजिक समूहों के संख्यानुपात में अवसरों के बंटवारे के रास्ते ही आर्थिक गैर-बराबरी के खात्मे में विश्वास करता है। इसीलिए यह शासन-प्रशासन और देश के कारोबार में मूलनिवासी बहुजन समाज को उसका प्राप्य दिलाने के लिए भागीदारी दर्शन के महानायक कांशीराम की इस चाह-जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी भागीदारी- को अपना मूलमंत्र घोषित करता है।

ऐसे में आर्थिक विषमता के दूरीकरण के उद्देश्य से बीडीएम मान्यवर कांशीराम के भागीदारी दर्शन और अमेरिका के डाइवर्सिटी सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर, भारत की सामाजिक विविधता को सामाजिक प्रतिनिधिकरण में रूपायित करने अर्थात् विविधतामय भारत के चार सामाजिक समूहों— (1) अनुसूचित जाति/जनजाति, (2) पिछड़ा वर्ग, (3) धार्मिक अल्पसंख्यकों और (4) सवर्णों के संख्यानुपात में विभिन्न क्षेत्रों में अवसरों के बंटवारे के लिए राष्ट्र को तैयार करने का अभियान चलाने की घोषणा करता है। बीडीएम की चाह है कि निम्न प्रकार की डाइवर्सिटी के रास्ते आर्थिक गैर-बराबरी दूर करने के लिए राष्ट्र आगे आये।

1. सर्विस डाइवर्सिटी— लागू करवाकर सरकारी और निजी क्षेत्र की सभी स्तर की नौकरियों (मजदूर, बाबू से लेकर प्रशासनिक पदों) में चारों सामाजिक समूहों को उनकी संख्यानुपात में अवसर सुलभ कराया जाय। सेना व न्यायालयों में भी सर्विस डाइवर्सिटी लागू हो। चूंकि भारत में व्यक्ति की सोच स्व-जाति/वर्ण की स्वार्थ की परिधि में घूर्णित होती है और इससे न्याय व्यवस्था सर्वाधिक प्रभावित होती है इसलिए लोअर कोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक में पेशकार से लेकर जजों की सेवा में सर्विस डाइवर्सिटी अविलम्ब लागू हो।

2. सप्लायर डाइवर्सिटी— लागू करवाकर सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा अपनी जरूरत के लिए की जाने वाली खरीददारी में चारों सामाजिक समूहों को वस्तुयें सप्लाई करने का समान अवसर दिया जाय। आधुनिक अर्थव्यवस्था शुरू होने से लेकर अब तक यह अवसर मुट्ठी भर सवर्णों को सुलभ है जो इस देश में आर्थिक विषमता का एक बड़ा कारण है। सप्लाई का सुनिश्चित अवसर वर्ण-व्यवस्था के वंचितों में भारी मात्रा में व्यापारी मैनूफैक्चरर पैदा करेगा। इससे विषमता के दूरीकरण में काफी सहायता मिलेगी।

3. डीलरशिप डाइवर्सिटी— लागू करवाकर सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा तैयार होने वाले उत्पादों के वितरण में चारों सामाजिक समूहों को हिस्सेदार बनाया जाए। सप्लाई की तरह इसमें भी सवर्णों का एकाधिकार है। डीलरशिप डाइवर्सिटी आर्थिक विषमता को पाटने में चमत्कार घटित कर सकती है। शराब के डिस्ट्रीब्यूशन में तो अविलम्ब लागू हो। ऐसे में आर्थिक विषमता को दूर करने में सप्लाई और डीलरशिप को अति प्रभावी हथियार मानते हुए भारत में आने वाली विदेशी कंपनियों और विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) में जगह बनाने जा रही देशीय कंपनियों में नौकरी

के साथ सप्लाई व डीलरशिप लागू करवाना बीडीएम का एक खास एजेण्डा रहेगा।

4. कांट्रैक्ट डाइवर्सिटी— लागू कर अविलम्ब सड़क-भवन इत्यादि के निर्माण के ठेकों का बंटवारा चारों सामाजिक समूहों में हो। वर्तमान में यह अवसर मुट्ठी भर अग्रसर जातियों और दबंगों को मिल रहा है। ठेके पर निर्माण और उत्पादन का काम निजी क्षेत्र की कंपनियां खूब करा रही हैं। बड़े-बड़े मैनुफैक्चरिंग संस्थान मात्र एसेम्बलिंग का सेंटर बनकर रह गये हैं। ऐसे में निजी क्षेत्रों द्वारा ठेकों पर कराये जाने वाले कामों में भी विविधता नीति लागू हो। आजकल सरकारी हो या निजी क्षेत्र खुद का ट्रान्सपोर्ट विभाग न रखकर बाहर से सेवायें लेते हैं। इस सेवा में भागीदारी लागू करवाकर विषमता की खाई कम की जा सकती है। सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा दिये जाने वाला पार्किंग का ठेका भी मुट्ठी भर सवर्णों और दबंगों को फलने-फूलने का बड़ा अवसर सुलभ कराता है। लिहाजा पार्किंग सहित अन्यान्य जितने भी ठेके दिये जाते हैं वहां आर्थिक विषमता को पाटने के लिए डाइवर्सिटी लागू हो, इसके लिए बीडीएम अभियान चलायेगा।

(5) मीडिया, फिल्म और मनोरंजन जगत में डाइवर्सिटी— लागू करवाना न सिर्फ आर्थिक गैर-बराबरी को दूर करने बल्कि वंचितों को सांस्कृतिक जगत में सम्मान दिलाने का एक कारगर हथियार बन सकता है। प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में गैर-बराबरी का सर्वाधिक बोलवाला है। इस क्षेत्रों में एक भी दलित संपादक नहीं है जो इसमें विषमता का चुड़ान्त दृष्टान्त है। प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में लाखों सवर्ण रिपोर्टर से लेकर संपादक बनकर दोनों हाथों से यश और धन लूट रहे हैं, जबकि प्रतिभा में दोगुम दर्जे के ऐसे लोगों को मूलनिवासी मात्र ईष्य करने के लिये विवश हैं। इस क्षेत्र में अवसर मिलने से अरबों रुपये अपने समाज को हर साल दान देने वाली ओप्रा विन्प्रेफ जैसे लोग मूलनिवासी समाज से भी निकल सकते हैं। प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से बहुत भिन्न स्थिति फिल्म और भारतीय पॉप संगीत की दुनियां में भी नहीं है। मूलतः विदेशों में विकसित फिल्म टेक्निक और अमेरिकी फिल्मों के एक्शन, ड्रामा और पॉप म्यूजिक का सहारा लेकर मनोरंजन जगत में सवर्ण खूब यश और धन कमा रहे हैं। साल में 1000 से अधिक फिल्मों का निर्माण कर भारत एशिया का 'सृजनात्मक सुपर पावर' बन गया है। इसके पीछे है मल्टीप्लेक्सों की तेजी से बढ़ती संख्या, सेटेलाइट से सिग्नल डिक्कोडिंग और होम इंटरनेट मार्केट में आया उछाल। यह सब चीजें भी पश्चिम की मनीषा की देन है। धन तो कमा रहे हैं पर मौलिकता से कोसों दूर रहने के कारण इस क्षेत्र में भारत की स्थिति हास्यास्पद बनने से भी दूर नहीं है। कला के नाम पर सतही नकल परोसने वाले सवर्णों के मनोरंजन साम्राज्य में डाइवर्सिटी लागू कर विषमता की खाई को भारी मात्रा में पाटा जा सकता है। जब अपनी मौलिकता और भव्यता से दुनिया को विस्मित करनेवाला हॉलीवुड अश्वेतों को संख्यानुपात में अवसर दे सकता है तो नकलचियों से भरे भारतीय मनोरंजन जगत में भी डाइवर्सिटी लागू हो सकती है, ऐसा बीडीएम का दृढ़ विश्वास है।

6. विज्ञापन निधि में डाइवर्सिटी— लागू कर आर्थिक विषमता की खाई को पाटने में महत्वपूर्ण रोल अदा किया जा सकता है। केन्द्र और राज्य सरकारें अपने कार्यक्रमों, नीतियों और उपलब्धियों को प्रचारित करने के लिए प्रतिवर्ष हजारों करोड़ रुपये विज्ञापन पर खर्च करती हैं। यह सारा पैसा जाता कहाँ है? यह सारा पैसा खास तौर से उन अखबारों और वर्ण-व्यवस्था की पोषक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में, जिन्हें बहुजन समाज के बुद्धिजीवी ट्वायलेट पेपर मानकर खारिज करते रहते हैं, जाता है। मुख्यतः सरकारी विज्ञापन के सहारे ही हिन्दू आरक्षणवादियों के तीस-तीस, चालीस-चालीस रुपये के लागत के अखबार डेढ़ दो से लेकर तीन रुपये में बिकते हैं, फिर भी भारी मुनाफे में रहते हैं। यही हाल सवर्णों की पत्रिकाओं का भी है। बहुत से चालाक सवर्ण संपादक पहुंच के बल पर, अपनी पत्रिकाओं की सौ पचास प्रतियां निकालकर भी पचास-पचास हजार का सरकारी विज्ञापन हासिल कर लेते हैं। लब्बोलुबाव यह है कि प्रधानतः सरकारी विज्ञापनों के सहारे ही पत्र पत्रिकाओं के स्वामी न सिर्फ अपने वर्गहित के अनुकूल विचारों का निर्माण करते हैं बल्कि रईसों की जिन्दगी जीते हुए पेज-3 में जगह बनाते एवं राष्ट्र और राज्य की राजधानियों के हृदय स्थल में अट्टालिकाएं खड़ी करते हुए विधान परिषद और राज्य सभा की सीटें तक बुक करा लेते हैं। वहीं सरकारी विज्ञापनों में हिस्सेदारी न मिल पाने के कारण मूलनिवासी समाज के प्रिन्ट मीडिया के स्वामी सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रकाशित की जाने वाली पत्र-पत्रिकाओं की अकाल मृत्यु का साक्षात् करने के लिए अभिशप्त रहते हैं। लेकिन सवर्ण मीडिया स्वामियों के लिए विज्ञापन निधि के मामले में सरकारी क्षेत्र अगर दरिया है तो नीजि क्षेत्र समंदर।

निजी क्षेत्र अपने अनाप-शनाप उत्पादों की ओर उपभोक्ताओं को लुभाने के लिए कहीं-कहीं उत्पादित वस्तुओं की मैनुफैक्चरिंग लागत से कहीं ज्यादा खर्च उसके विज्ञापन पर करता है। नतीजा! हजारों-हजारों करोड़ रुपया विज्ञापन के मद में सवर्ण मीडिया स्वामियों के पास जा रहा है। फलस्वरूप कुकुरमुत्ते की तरह रोज-रोज नये-नये अखबार, नये-नये टी.वी. चैनल उगते जा रहे हैं। अपने उदय के थोड़े ही दिनों में ये चैनल हजारों करोड़ के व्यावसायिक प्रतिष्ठान में तब्दील हो जाते हैं। होंगे भी क्यों नहीं, कुछ-कुछ सेकेंडों के विज्ञापन के लिए इन्हें कई-कई लाख जो मिल जाते हैं। लेकिन सड़े-गले और समाज परिवर्तन विरोधी विचारों को बेचकर सुख ऐश्वर्य की जिन्दगी जीने वाले सवर्णों की वित्त वासना सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा मिलने वाली विज्ञापन राशि से शान्त नहीं हुई। उन्होंने अटल सरकार को, जो 1955 के मंत्रिमण्डल का हवाला देकर प्रिन्ट मीडिया में विदेशी निवेश से पीछे भागती रही, भूमण्डलीकरण के दौर में बन्द पड़े सभी खिड़कियों-दरवाजों को सभी के लिए मुक्त करने का बार-बार आग्रह कर प्रिन्ट मीडिया में भी विदेशी निवेश को अनुमति देने के लिए राजी कर लिया। अटल सरकार के जमाने में शुरू हुआ 26 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश जहां आज प्रिन्ट मीडिया में 49 प्रतिशत तक पहुंच गया, वहीं यह इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में 74 प्रतिशत हो गया है। विदेशी मीडिया स्वामी भी भारत में

विपुल विज्ञापन राशि का लहराता समंदर देखकर निवेश में बढ़-चढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं। ऐसे में अगर सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा खर्च की जानेवाली विज्ञापन राशि; मीडिया में निवेश होने वाली विदेशी पूंजी में डाइवर्सिटी लागू कर दिया जाय तो आर्थिक विषमता की गैर-बराबरी तो मिटेगी ही, सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि भारत में वैचारिक क्रांति की जमीन तैयार हो जायेगी। कारण, तब विज्ञापन निधि के सहारे मूलनिवासी समाज के ढेरों अखबार और चैनल अस्तित्व में आयेंगे, जो लाखों मूल-निवासी युवक-युवतियों को रोजगार देने के साथ-साथ सामाजिक-परिवर्तनकामी विचारों को हवा देंगे। इस सम्भावना को देखते हुए विज्ञापन राशि में डाइवर्सिटी लागू करवाने पर बीडीएम विशेष जोर देगा।

(7) एन.जी.ओ. के लिए बंटने वाली निधि में डाइवर्सिटी : आजकल कुकुरमुत्ते की तरह भूरि-भूरि गैर-सरकारी संस्थान (एन.जी.ओ.) भी अस्तित्व में आ रहे हैं। आये भी क्यों नहीं, दीन-दुखियों की सेवा के नाम पर देश-विदेश से इन्हें मुक्तहस्त से दान जो मिल रहा है। दीन-दुखी कौन? मूलनिवासी ही तो! लेकिन मूल निवासियों की सेवा के नाम पर मिलने वाली राशि पर सवर्णों का एकाधिकार है। गैर-सरकारी संस्थाओं के स्वामी समग्र वर्ग की चेतना से शून्य होने के कारण वह धनराशि दीन-दुखियों की सेवा में खर्च करने की बजाए एयर कंडीशंड कमरों और गाड़ियों का सुख भोगने में खर्च करते हैं। इसी रुपये के सहारे इंसानियत के ये सौदागर मानव सेवा का प्रोपगन्डा कर मैगसासे और दूसरे बड़े अवार्ड जीतकर अपनी मार्केट वैल्यू और बढ़ा लेते हैं। समाज सेवा के नाम पर हर साल बंटने वाली हजारों-हजारों करोड़ की धनराशि का तब तक कोई सार्थक इस्तेमाल नहीं हो पायेगा, जब तक इसमें डाइवर्सिटी लागू नहीं होगी। चूंकि इसमें डाइवर्सिटी लागू होने पर समाज सेवा के रास्ते लाखों मूल निवासी रोजगार पायेंगे और अपने दीन-दुखी समाज के प्रति सच्चे मन से सहानुभूतिशील होने के नाते काफी हद तक ईमानदारी से इनकी सेवा भी करेंगे, इसलिए बीडीएम के एजेण्डे में यह डाइवर्सिटी भी रहेगी।

(8) ज्ञान उद्योग में डाइवर्सिटी : विभिन्न तरह की डाइवर्सिटी लागू होने से भले ही आर्थिक विषमता की खाई काफी हद तक पट जाय, पर वह स्थाई तभी होगी जब ज्ञान की संस्थाओं में प्रवेश, अध्यापन एवं संचालन में चारों सामाजिक समूहों के संख्यानुपात में हिस्सेदारी सुलभ होगी। इस डाइवर्सिटी के तहत आईआईएम आईआईटी जैसे उच्च शिक्षण संस्थाओं तक में सवर्णों की हिस्सेदारी मात्र 15 प्रतिशत छात्रों और 15 प्रतिशत ही शिक्षकों तक सीमित रखना होगा। एक अनुमान के मुताबिक भारत में एक डॉक्टर को तैयार करने में लगभग 30 लाख खर्च होते हैं जो करदाताओं की जेब से जाता है। इससे बहुत कम खर्च बिजनेस मैनेजमेंट और इंजीनियरिंग इत्यादि का कोर्स करने पर होता है। जब करदाताओं के पैसे से ही मैरिट निखारी जाती है तब सवर्णों को ही इसका अधिकतम लाभ क्यों मिले? बहरहाल जो सोचते हैं सवर्णों को शिक्षण संस्थाओं में मात्र 15 प्रतिशत तक सीमित कर देने से देश प्रतिभा से वंचित हो जायेगा, वे भ्रम के शिकार हैं। ये अनुकूल सामाजिक और आर्थिक परिवेश का लाभ

उठाकर किसी भी शिक्षण संस्था में एडमिशन पाने लायक अंक तो हासिल कर लेते हैं, पर परजीवी समाज की संतान होने के कारण मौलिक चिंतन और शोध के लिए प्रयास नहीं करते। इसीलिये यह विशाल देश आज 'पेटेन्ट राइट' के मामले में कंगाल है। मैनेजेरियल क्षेत्र में इनकी प्रतिभा का सबूत दिन ब दिनरुग्ण होते सरकारी उपक्रम हैं। इनमें अगर योग्यता होती तो आज भारत को बहुराष्ट्रीय कंपनियों का गुलाम होने की दिशा में आगे बढ़ने के लिए लाचार नहीं होना पड़ता। बहरहाल जब ज्ञान क्षेत्र के डाइवर्सिटी में ही स्थाई रूप से आर्थिक विषमता से दूरीकरण का आधार छिपा हुआ है तब इसे बीडीएम का अन्यतम प्रमुख एजेन्डा होना ही था। तीन दर्जन से अधिक नोबेल पुरस्कार विजेता देने वाले अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय तक में जब डाइवर्सिटी लागू है तब उसके सामने प्राइमरी स्कूल जैसी हैसियत रखने वाले भारत के कथित बेहतरीन शिक्षण संस्थाओं तक में डाइवर्सिटी लागू हो सकती है, ऐसा बीडीएम का विश्वास है।

(9) राज्य की शक्ति के केन्द्रों में डाइवर्सिटी— वैसे तो भूमण्डलीकरण के दौर में राज्य सर्वत्र अपनी जिम्मेवारियों से हाथ उठाते प्रतीत हो रहा है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। बावजूद इसके मूलनिवासियों का राज्य पर से भरोसा उठा नहीं है। चूंकि इस देश के प्रभु वर्ग के सामाजिक विवेक से पूरी तरह शून्य होने के कारण मूल निवासियों को जो कुछ भी मिला है कानून के सहारे ही मिला, इसलिए राज्य पर उसकी आस्था अटूट है। ऐसे में चूंकि राज्य के सहारे ही भारत में डाइवर्सिटी लागू हो सकती है इसलिए बीडीएम राज्य की शक्ति के विभिन्न केन्द्रों— राज्य एवं केन्द्र के कैबिनेट; विधान परिषद, राज्य सभा आदि- में डाइवर्सिटी की चाह रखता है।

चूंकि देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए मूलनिवासियों को कारोबार में हिस्सेदारी दिलाना ही बीडीएम का मिशन है इसलिए वह हिन्दू आरक्षण के सौजन्य से विश्व में सर्वाधिक विषमता का शिकार बने अस्पृश्य-आदिवासियों के लिए कुछ अतिरिक्त प्रावधान करने की हिमायत करेगा। इसके तहत बीडीएम चाहेगा कि रेल-राष्ट्रीय राजमार्गों के किनारे पड़ी खाली जमीन सहित तमाम सरकारी व मठों की भूमि व्यावसायिक उपयोग के लिए भूमिहीन अस्पृश्य-आदिवासियों के मध्य वितरित हो। यही नहीं इन्हें सप्लाई, डीलरशिप, कंट्रैक्ट इत्यादि डाइवर्सिटी का लाभ उठाने योग्य बनाने में राज्य कुछ अतिरिक्त बोझ ले, बीडीएम इस दिशा में भी प्रयास करेगा।

चूंकि आर्थिक विषमता मिटाने की गरज से मूलनिवासियों को खेती में हिस्सेदारी दिलाने के लिए राष्ट्रवादी, गांधीवादी, लोहियावादी और मार्क्सवादी विचारधारा के असंख्य संगठन ही कार्यरत हैं इसलिये आम्बेडकरवादी बीडीएम यह काम उनके जिम्मे छोड़कर सिर्फ उद्योग-व्यापार, फिल्म-टी.वी., मीडिया इत्यादि में हिस्सेदारी पर केन्द्रित रहेगा। लेकिन ऐसा नहीं कि असंख्य संगठन कृषि क्षेत्र में विषमता दूर करने के लिए सक्रिय हैं इसलिये ही यह संगठन इस क्षेत्र के प्रति उदासीन है। नहीं, कृषि

क्षेत्र पर भी इसकी सजग दृष्टि है। यह देख रहा है कि सारी दुनिया में खेती घाटे का सौदा बनकर किसानों के लिए बोझ बन चुकी है, इसलिए सब्सिडी की सुविधा पाने वाले अमेरिका और यूरोप के किसान तक खेती छोड़ रहे हैं। भारत का परिदृश्य तो यह है कि आने वाले दिनों में भू-स्वामी गिड़गिड़ाकर अपनी जमीन बहुराष्ट्रीय निगमों को सौंप देंगे और वहां सेज (विशेष आर्थिक क्षेत्र) कंपनियों के लिए सजता जायेगा। भविष्य में जब वह दौर आयेगा, उस समय भारतीय खेती का औद्योगिकरण हो चुका होगा। तब टेक्नोलॉजी के विकास के साथ भारत में कृषि के औद्योगिकरण का वह रूप सामने आयेगा, जिसके समक्ष आज के अमेरिका के कृषि का रूप भी पिछड़ा नजर आयेगा। उस दौर में उत्पाद व उत्पादों के विपणन की प्रक्रिया आज के कल-कारखानों के जैसी हो जायेगी। तब कृषि से श्रम का नाता नहीं के बराबर रह जायेगा। तब जिन सवर्ण स्त्री-पुरुषों को आज दूसरों के खेतों में काम करते देखना अजूबा लगता है, वे ही मूलनिवासियों को दूर हटाकर बहुराष्ट्रीय नवजर्मीदारों के खेतों में काम करने की होड़ लगायेंगे। तब जिस तरह आज मूलनिवासी निजी क्षेत्र से बहिष्कृत हैं, वैसे ही कारपोरेट खेती से भी खदेड़ दिये जायेंगे। भारतीय खेती के वैसे दौर में, शत-प्रतिशत तो नहीं, पर कुछ प्रतिशत को बचा सकती है तो सिर्फ डाइवर्सिटी। वहां डाइवर्सिटी लागू होने पर खाद, पानी, ट्रांसपोर्ट इत्यादि की सप्लाई; उत्पादों के विपणन में डीलरशिप और खेती में प्रयुक्त होने वाली श्रम शक्ति में मूलनिवासियों को भागीदारी मिल सकती है। अगर भारत में राज्य डाइवर्सिटी लागू नहीं करता है तो कल की खेती में वर्ण-व्यवस्था के वंचितों को कोई अवसर नहीं मिलेगा।

उपरोक्त लक्ष्यों को हासिल करने के लिए :

बीडीएम मुख्यतः वर्ण-व्यवस्था के उन वंचितों के मध्य जनजागरण अभियान चलायेगा जो दैविक गुलामी के कारण वीभत्स संतोषबोध का शिकार हैं; जिनमें हिन्दू आरक्षण द्वारा वित्त वासना इस तरह से लुप्त कर दी गई कि उनमें परिवर्तन या प्रगति की चाह ही मर गई। वे टाटा-बिड़ला और हेनरी फोर्ड होना तो दूर छोटा-मोटा उद्योगपति-व्यापारी बनने का सपना तक नहीं देखते। ऐसे दासों में मा. कांशीराम के सौजन्य से शासक बनने की भावना तो पैदा हुई है पर उद्योगपति, मीडिया स्वामी या किसी फिल्म स्टुडियो का मालिक बनने की महत्वाकांक्षा नहीं। वित्त वासनाशून्य ऐसे लोगों में बीडीएम राबर्ट एल. जानसन जैसा उद्योगपति; विलियम रास्पबेरी जैसा पत्रकार, ओप्रा विन्फ्रे जैसी टी.वी. एंकर; डेंजिल वाशिंगटन, विल स्मिथ, हैलेबेरी, हूपी गोल्डबर्ग, जेनिफर हडसन इत्यादि जैसे फिल्म सितारे बनने की भावना जागृत करने पर सर्वशक्ति लागायेगा। ऐसे में जब मूलनिवासियों में परिवर्तन और प्रगति; उद्योगपति, सप्लायर, डीलर, ठेकेदार, पत्रकार, फिल्म एक्टर इत्यादि बनने की उग्र चाह पैदा होगी तब वोट के लालच में राजनीतिक पार्टियां डाइवर्सिटी को अपने चुनावी मैनिफेस्टो का केंद्रीय मुद्दा बनाने को बाध्य

50/ बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का घोषणापत्र

होंगी; फिर प्रशस्त होगा डाइवर्सिटी का मार्ग। इसी रास्ते आकार लेना शुरू करेगा गौतम बुद्ध, फुले, शाहूजी, पेरियार, डॉ. आम्बेडकर और कांशीराम साहब का भारत से आर्थिक विषमता मिटाने का सपना।

अध्याय—3

राष्ट्रहित में डाइवर्सिटी

वैसे तो बीडीएम के उद्देश्यों में डाइवर्सिटी की उपयोगिता पर यथेष्ट रोशनी डाली जा चुकी है। लेकिन इसकी उपयोगिता महज आर्थिक विषमता मिटाने तक सीमाबद्ध नहीं है। इसे लागू करने पर विविध समस्याओं से जूझते विविधतामय भारत को विविध मोर्चों पर लाभ मिलेगा। निम्न वर्णित कुछ प्रमुख समस्याओं के प्रतिकार में इसकी उपयोगिता के बरक्स राष्ट्रहित में डाइवर्सिटी के महत्व को समझा जा सकता है।

1. आर्थिक विषमता पाटने के लिए : अशिक्षा, अज्ञानता, तरह-तरह की रोग-व्याधि में विश्व चैंपियन भारत नामक अभागे राष्ट्र के कल्याण में समर्पित लोगों के समक्ष इस देश में व्याप्त आर्थिक असमानता एक विराट चुनौती बनी हुई है। इस विषमता के दूरीकरण के लिए असंख्य चिंतकों, विभिन्न विचारधारा की राजनीतिक पार्टियों ने तरह-तरह के विकल्प सुझाए पर आर्थिक असमानता का चित्र लगभग पूर्ववत् है। अतीत की भांति वर्तमान में भी देश की दस से पंद्रह फीसदी अग्रसर आबादी का प्रायः 75 से 80 फीसदी आर्थिक श्रोतों पर कब्जा है। जिनका कब्जा है वह और कोई नहीं बल्कि हिंदू साम्राज्यवाद का सुविधाभोगी वर्ग है। इस वर्ग के हाथ में संपदा, संस्थाओं और उच्चमान के लाभकारी पेशों का अधिकार संरक्षित करने के उद्देश्य से ही हजारों वर्ष पूर्व वर्ण-व्यवस्था नामक विरल आर्थिक तंत्र विकसित किया गया था। इस अर्थतंत्र में जिस कौशल से अल्पजनों के भौतिक सुखों का सुबन्दोबस्त किया गया था उसका परिणाम भयंकर आर्थिक असमानता के रूप में आना ही था।

अगर हम विविधतामय भारत के दलित (अस्पृश्य-आदिवासी), पिछड़े और उनसे धर्मान्तरित धार्मिक अल्पसंख्यक मानव समूहों के लिए उद्योग-व्यापार, प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, फिल्म—टी.वी, परिवहन, सरकारी व गैर-सरकारी ठेको, पार्किंग इत्यादि में, उनकी संख्यानुपात में भागीदारी दिलाने के लिए अपनी संपूर्ण क्षमता का सफल उपयोग करते हैं, तो निश्चय ही विषमता की खाई पटने की एक जोरदार प्रक्रिया शुरू होगी। इसके फलस्वरूप और कुछ हो या न हो कुछेक दशकों के भीतर हम आर्थिक वैषम्य के दूरीकरण के मोर्चे पर अवश्य ही फतेहयाबी हासिल कर लेंगे।

इस मोर्चे पर सक्रियता की जरूरत अतीत की तुलना में वर्तमान में बहुत ज्यादा हो गई है। कारण अतीत में हमारी जो आर्थिक असमानता राष्ट्र के लिए बहुत घातक न बनी, आज वह राष्ट्र के हृदययंत्र को विस्फोटित करने का कारण बन सकती है। अतीत में इस असमानता का शिकार मानव समूहों की मानसिकता ऐसी थी कि वे इसे दैवीय इच्छा व अपने पूर्वजन्मों के कुकर्मों का फल मानकर संतुष्ट रहते थे। पुनर्जन्मवाद

के कारण उनमें एक वीभत्स-संतोषबोध व्याप्त रहता था। पर, अब उनकी मानसिकता में भारी बदलाव आ रहा है। अब वे अपनी आर्थिक बदहाली को अपनी नियति मानकर संतोष करने से विरत हो रहे हैं। उन्हें इस बात का भी भान हो चला है कि हिंदू साम्राज्यवाद के सुविधाभोगी वर्ग का आर्थिक साम्राज्य उनकी कथित 'मेरिट' का उपज नहीं बल्कि एक ऐसी कृत्रिम आर्थिक-व्यवस्था की बुनियाद पर विकसित हुआ है जो उनके पुरुषों ने उनके हित में सृष्ट किया था। यही नहीं भूमंडलीकरण के दौर में उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने का जो उद्योग प्रचार माध्यमों द्वारा चलाया जा रहा है उससे एक अप्रिय स्थिति यह पैदा होने जा रही है कि जन्मगत कारणों से असमानता का शिकार बने मानव समूह अब पहले की तरह गरीबी को चुपचाप सहन करने की मानसिकता खो देंगे। कुल मिलाकर वंचितों में अब उग्र-असंतोष का भाव पनपने लगा है। इससे ऐसा लग रहा है कि जिस तरह उग्र वामपंथियों के नेतृत्व में भूमि में हिस्सेदारी पाने के लिए जन्मजात सर्वहारा हथियार उठा रहे हैं उसी तरह कल वे उद्योग-व्यापार, ठेकों, पार्किंग, मीडिया, फिल्म-टी.वी. इत्यादि अर्थोपार्जन के क्षेत्रों में हिस्सेदारी हासिल करने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।

अगर उपरोक्त स्थिति भारत में पैदा होती है तब तो हिंदू साम्राज्यवाद के सुविधाभोगी वर्ग को संकट के सम्मुखीन होना ही पड़ेगा, इससे भी बड़ी बात होगी कि राष्ट्र की आर्थिक गतिविधियां रुद्ध हो जाएंगी। यह कल्पना करके किसी भी राष्ट्र प्रेमी का दिल दहल जाएगा कि विशाल संख्यक वंचित आबादी के लोग यदि बंदूक की नोक पर उद्योगपतियों, व्यापारियों, मुट्ठी भर ठेकेदारों, मीडिया स्वामियों, फिल्म वालों की नाकेबंदी कर दें तो राष्ट्र का क्या हाल होगा?

2. बहुराष्ट्रीय कंपनियों को रोकने के लिए : नरसिंहा राव के जमाने से भूमंडलीकरण की नीति के तहत सभी सरकारों ने जिस तरह उदारीकरण और निजीकरण की सड़क पर दौड़ लगायी है उससे देशप्रेमी सभी ताकतों को इस बात का अदेशा नहीं रहा कि आने वाले दिनों में भारत पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का नियंत्रण हो जाएगा; देश अपनी आर्थिक प्रभुसत्ता खो देगा। इस आसन्न संकट को देखकर स्व. दत्तोपंत ठेंगड़ी अस्सी के दशक से यह रट- अब जो आर्थिक स्थितियां और परिस्थितियां बन रही हैं या बनाई जा रही हैं, उसके फलस्वरूप देश आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बन जाएगा, तब हमें राजनीतिक आजादी की तरह आर्थिक आजादी का दूसरा स्वातंत्र्य युद्ध लड़ना पड़ेगा—लगाते-लगाते स्वर्ग सिधार गए। लेकिन मरने के पहले उन्होंने आर्थिक गुलामी रोकने के लिए अपने विशाल संगठन के द्वारा हर मुमकिन उद्योग किया। पर सत्ता में आकर राष्ट्रवादियों ने जिस तरह आर्थिक गुलामी लायक जैसी जमीन तैयार की उससे लगता है ठेंगड़ी जी के प्रयासों का कोई असर नहीं हुआ।

इस मामले में मार्क्सवादी, समाजवादी और दूसरे विचारधारा से जुड़े बुद्धिजीवी और नेता भी खूब पीछे नहीं रहे। बल्कि उनसे भी ज्यादा आक्रमक तेवर के साथ नवसाम्राज्यवाद अर्थात् अमरीकी साम्राज्यवाद को रोकने के लिए मुस्तैद रहे। इस

सिलसिले में देश भर में अब तक वे अनगिनत सभाएं कर असंख्य बार डब्ल्यूटीओ के पुतले फूंक चुके हैं और आज भी फूंक रहे हैं, लेकिन राज्यों से लेकर केन्द्र में वर्षों से परोक्ष क्षमता हाथ में लेकर भी ऐसी कोई रस्तीभर भी आश नहीं बंधा सके कि वे बहुराष्ट्रीय कंपनियों को रोक लेंगे। अब तो वे विदेशी पूंजी निवेश का स्वागत भी करने लगे हैं लेकिन शर्तों पर। इसका मतलब वे मुंह से खुलकर स्वीकार न करते हुए भी व्यवहारिक रूप में यह मान चुके हैं कि विदेशी कंपनियों को रोकना अब संभव नहीं है।

बहरहाल जो साम्राज्यवाद विरोधी अब हताश होकर विदेशी निवेशकों का सशर्त स्वागत कर रहे हैं वे एक बार उनके समक्ष डाइवर्सिटी की उस नीति को वरण करने का प्रस्ताव रखें जिसका अमल अमेरिका की सभी छोटी-बड़ी कंपनियां करती हैं। उनके सामने शर्त रखनी होगी कि, जैसे डाइवर्सिटी (विविधता) सिद्धांत के तहत वहां की सभी कंपनियां वंचित मानव समूहों को नौकरियों के साथ-साथ, वस्तुओं की खरीदारी और तैयार उत्पादों के डीलरशिप में भी अवसर देती हैं, उसी तरह भारत में कारोबार करने वाली विदेशी कंपनियों को भी यहां के चिरवंचितों को अवसर देना पड़ेगा। अगर ऐसी शर्तों पर विदेशी कंपनियों को देश में कारोबार करने के लिए मजबूर करते हैं तो हम राष्ट्रहित में उनका कुछ उपयोग कर पाएंगे अन्यथा उनकी लूट का शिकार बनकर रह जाएंगे।

विदेशी निवेश के साथ 'डाइवर्सिटी' की शर्त जोड़ने से लाभ ही लाभ है। सबसे बड़ा लाभ तो यह दिख रहा है कि डब्ल्यूटीओ का तरह-तरह का विरोध कर भी साम्राज्यवाद विरोधी ताकतें जो नहीं कर सकीं, वह डाइवर्सिटी कर सकती है। पिछले दिनों महाराष्ट्र सरकार द्वारा अचानक निजी क्षेत्र में आरक्षण की घोषणा किए जाने के बाद वहां की देशीय कंपनियों के साथ-साथ जिस तरह बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपना कारोबार समेटने की धमकी दी उससे तय है कि डाइवर्सिटी की शर्त उन्हें बोरिया बिस्तर बांधने के लिए मजबूर कर देगी। ऐसा अगर होता है तब तो साम्राज्यवाद विरोधियों की मनमांगी मुराद पूरी जाएगी। और अगर वे डाइवर्सिटी की शर्तें मान लेती हैं तो इससे न सिर्फ जन्मजात सर्वहारा वर्ग को भूमंडलीकरण की आंधी में अपने वजूद को बचाने में मदद मिलेगी बल्कि मनमोहन सरकार की आर्थिक नीतियों को मानवीय चेहरा भी मिल जाएगा।

3. भूमण्डलीकरण के सैलाब से मूलनिवासियों को बचाने के लिए : विगत दो दशकों से नई वैश्विक अर्थनीति के चलते आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बन जाने की आशंका को दृष्टिगत रखकर हमने बहुराष्ट्रीय निगमों को भारत में प्रवेश पर रोक लगाने में अपनी भारी ऊर्जा क्षरित की है। इसके लिए हमने डब्ल्यूटीओ के पुतले फूंकने, तरह-तरह के धरना-प्रदर्शन और असंख्य संगोष्ठियों का आयोजन किया। पर परिणाम शून्य रहा। हमारे प्रयास के विपरित आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम बनने लायक स्थितियों और परिस्थितियों का ही निर्माण हुआ। जिन दलों के लोगों ने विदेशी कंपनियों को रोकने में बड़-चढ़कर हिस्सा लिया वे ही जब सत्ता में आए तो विदेशी कंपनियों को भारत में कारोबार फैलाने के लिए निर्लज्जता से

तेलमर्दन करने लगे। वामपंथी दल तक इसका अपवाद नहीं रहे। आज स्थिति यह हो गई है कि कृषि उत्पाद से लेकर, खुदरा व्यापार तक में उनका कारोबार फैलने जा रहा है। यह सारी परिस्थितियां इस बात का सूचक हैं कि भारत तीसरी गुलामी के चपेट में आ चुका है।

तीसरी गुलामी के लगातार स्पष्टतर होते जा रहे चित्र को देखते हुए अब जरूरी होते जा रहा है कि भूमंडलीकरण के सैलाब को रोकने के बजाए, हम अपनी ऊर्जा इसके चपेट में आने वाले लोगों को बचाने में लगावें। जहां तक भूमंडलीकरण के दुष्प्रभावों का सवाल है तमाम अर्थशास्त्रियों का आंकलन है कि पूरे विश्व में औसतन प्रायः 80% आबादी को इसमें अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए जूझना पड़ेगा। इसमें 20% आबादी के लिए ही जीवन-यापन के बेहतर अवसर हैं। बीस प्रतिशत उपभोक्ता ही इसमें जन्नत का सुख लूटेंगे। भौतिक सुखों के उपभोग के लिए भूमंडलीकरण के दौर में जितना सामान पंद्रह से बीस प्रतिशत लोगों के लिए सुलभ रहेगा वह मानव सभ्यता के इतिहास में अभूतपूर्व होगा। जहां तक तीसरी गुलामी में भारत समाज पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का सवाल है, वह इस्लामी और ब्रितानी साम्राज्य से बहुत भिन्न नहीं रहेगा।

इस्लामी साम्राज्य में ब्राह्मण बादशाहों के उपदेष्टा तो मानसिंह के भाई कमांडर व सिपहसलार बन कर ऐश करते रहे। ब्राह्मणों में कुछ ऐसी बात तो जरूर थी कि औरंगजेब जैसे कथित चरम हिंदू विरोधी ने भी उन्हें जजिया कर से मुक्त रखा। कुल मिलाकर प्रभुजातियों की स्थिति ऐसी रही कि सूर, तुलसी, बिहारी, केशव जैसे लोग तनावमुक्त होकर भक्ति व श्रृंगार रस में डूबे रहे और बादशाहों के विरुद्ध जनाक्रोश पैदा करने की जरूरत नहीं समझी। चूंकि ब्राह्मण, क्षत्रियों में डायनामिकनेस (गतिशीलता) का अभाव नहीं रहा है, इसलिए ब्रितानी साम्राज्य में भी उन्हें दिक्कत नहीं हुई। सर, राय बहादुर, राय चौधरी, सी.आई.ई. के भूषणों से अलंकृत होने वाली प्रभुजातियां राजसत्ता का सहायक बनकर अपनी स्थिति भविष्य के लिए सुदृढ़ करती रहीं। इसीलिए हिंदू साम्राज्य के सुविधाभोगी वर्ग के राजा राम मोहन राय ने जहां अंग्रेजी शासन को ईश्वर का विराट अशीर्वाद माना, वहीं ढेरों महापुरुषों ने अंग्रेजी राज्य के सूर्य के कभी अस्त न होने की कामना की। इस्लामी, ब्रितानी साम्राज्य के बाद अब तीसरी गुलामी में भी, समय की अनुकूल धारा में खुद को बहा लेने में माहिर प्रभुजातियों के लिए अनंत अवसर हैं। इस्लाम भारत के पूर्णिया पंडित और मानसिंह; अंग्रेज भारत के सर, राय बहादुर, राय चौधरियों की भावी पीढ़ी को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रबंधन का अवसर प्रदान करने के लिए भविष्य बाहें फैलाए खड़ा है। नए शासकों के प्रबंधक से लेकर दरवान, ड्राइवर तक का दायित्व इन्हीं को संभालना पड़ सकता है। क्योंकि नए साम्राज्य में चौकीदार या ड्राइवर बनने के लिए भी अंग्रेजी जानना जरूरी होगा और इसमें मैकाले विरोधी प्रभुजातियों की संताने ही पटु होंगी।

जहां तक वैश्यों का सवाल है, उनका भी चरित्र पर्याप्त गतिशील है। अपना आत्मसम्मान विसर्जित कर प्रभुजातियों की अनुकंपा के सहारे गुलामी के हर काल में ये जातियां इतना कमा लेती रहीं हैं कि मंदिरों में चढ़ावा और ब्राह्मणों को दान

देने के बावजूद भविष्य के लिए कुछ संचित करने में इन्हें विशेष दिक्कतों का सामना नहीं करना पड़ा। अब आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंध हटने के बाद मुमकिन है इनके छोटे-मोटे उद्योग ध्वस्त हो जाएं, पर, वंश परंपरा से व्यवसाय-वाणिज्य के साथ जुड़े रहने के कारण समय के साथ आर्थिक गतिविधियों के अनुकूल ढलने में इनको महारत हासिल है। कल-कारखानों के ध्वस्त होने के बाद ये विदेशियों के तैयार माल के क्रय-विक्रय में खुद को नियोजित कर अपने को पूर्ववत् स्थिति में बनाए रखेंगे।

उदारीकरण और भूमंडलीकरण के जिन भयावह परिणामों से अर्थशास्त्री, बुद्धिजीवी, समाजसेवी व नेता त्रस्त हैं, वे प्रधानतः दलित-पिछड़े और अल्पसंख्यकों को प्रभावित करने जा रहे हैं। भारत के दलित और अति-पिछड़े संभवतः दुनिया के सबसे अभागे प्राणी हैं। शोषण की चक्की में ये जातियां जितने लंबे समय से पिसती रही हैं, उसकी मिसाल पूरे विश्व में दुर्लभ है। इनकी ही दशा में कभी यूरोप की सामंतवादी व्यवस्था के सबसे निचले स्तर के लोग रहे। लेकिन यूरोप की उस व्यवस्था के गुलामों को इतिहास के गर्भ में विलिन हुए सदियां गुजर गईं। वे गुलाम ही तो आज वहां के स्वामी हैं। लेकिन भारत की वर्ण-व्यवस्था में जो दलित-पिछड़े साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व गुलाम बनाये गये, उनकी वह गुलामी बौद्ध भारत को छोड़कर, आज तक कायम है। इस्लामी साम्राज्य में जो पहली गुलामी का दौर शुरू हुआ, उससे पूर्व हिंदू साम्राज्य में उनके श्रम का कोई मूल्य नहीं था। यूरोप के सेफों की भांति जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, टूटे-फूटे बर्तन और लोहे के गहनों पर निर्भर रहने वाले हिंदू वर्ण-व्यवस्था के ये गुलाम अपनी सेवाओं का मूल्य मांगने की स्थिति में नहीं थे। इस्लामी साम्राज्य में भी उनकी स्थिति पूर्ववत् रही। पहली गुलामी के दौर में उनके ही श्रम का शोषण कर बादशाहों ने बेशुमार ऐश-महल और ताजमहल खड़े किए। ब्रितानी साम्राज्य से गुलामी का जो दूसरा दौर शुरू हुआ, उसमें अंग्रेजों ने उन्हें भारतीय दंड संहिता के माध्यम से कागज पर मनुष्य के रूप में जरूर प्रभुजातियों के बराबर किया। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के लार्ड कार्नवालिसों और इंग्लैण्ड में अवस्थित ब्रिटेन सरकार की तिजोरियों में भारत की जो अकूत संपदा भरी गई, उसका प्रधान श्रोत वर्ण-व्यवस्था के गुलामों का निर्मम शोषण ही था जिसे यहां की प्रभुजातियों के सहयोग से अंजाम दिया गया।

उपरोक्त टिप्पणी में निहित तथ्यों के आधार पर तीसरी गुलामी अर्थात् नवसाम्राज्यवाद के दुष्प्रभावों का आंकलन करने से लगता है कि भारत में इतिहास खुद को एक बार फिर दोहराने जा रहा है। विगत दो बार की तरह तीसरी गुलामी में भी शोषण का शिकार वर्ण-व्यवस्था की हजारों साल की वंचित जातियां ही होने जा रही हैं। यह तय है कि तीसरी गुलामी में विदेशी तो क्रीम ले जाएंगे और जूठन छोड़ जाएंगे हिंदुस्तानियों के लिए। लेकिन विगत दो बार की तरह इस बार भी हिंदू साम्राज्यवाद का सुविधाभोगी वर्ग फिर एक बार नवसाम्राज्यवादियों छोड़े गए जूठन पर हक जमा लेगा। अर्थात् तीसरी गुलामी में मूलनिवासी शूद्रातिशूद्रों की भांति प्राचीन विदेशागत आर्य समुदाय भी गुलाम रहेगा, पर, फर्क यह रहेगा जहां मूलनिवासी भूखे, अधनंगे रहकर गुलामी झेलने के लिए अभिशप्त रहेंगे वहीं आर्य

संप्रदाय भौतिक सुखों के प्राचुर्य के मध्य गुलामी झेलेगा। ऐसी स्थिति में यदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों में भी पूरी तरह से विविध प्रकार की डाइवर्सिटी लागू करवा दिया जाए तो भूमण्डलीकरण के सैलाब से काफी हद तक मूलनिवासियों को बचा लिया जाएगा।

4. विविधता में एकता के लिए : भारत में डाइवर्सिटी (विविधता) की बात करने पर हर भारतीय की जुबान पर यही आता है, 'यूनिटी इन डाइवर्सिटी' (भारत की विविधता में एकता) है। आखिर आये क्यों नहीं! अंग्रेज इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ द्वारा भारत के विषय में की गई, यूनिटी इन डाइवर्सिटी की टिप्पणी को रविन्द्रनाथ टैगोर जैसे कवि सम्राट और जवाहरलाल नेहरू जैसे स्वप्नद्रष्टा तक टेप की तरह बजाते जा रहे हैं। इन महामानवों की भारत की विविधता के विषय में व्यक्त की गई राय इनकी भावी पीढ़ी को इतनी सुखद लगी कि आज भी छोटे-बड़े लेखक-कवि, नेता और अभिनेता से लेकर आमजन को हम यह कहते पाते हैं कि भारत में यूनिटी इन डाइवर्सिटी है। जबकि सच्चाई यह है कि यहां की सोशल डाइवर्सिटी (सामाजिक विविधता) में यूनिटी (एकता) नहीं एनिमिटी (शत्रुता) है। और इस शत्रुता की उत्पत्ति विभिन्न सामाजिक समूहों के मध्य संपदा-संसाधनों और मानवीय मर्यादा के अत्यन्त असमान बंटवारे के कारण हुई है। इस असमान बंटवारे के कारण ही देश में अलगाववाद का बोलबाला है। डाइवर्सिटी लागू करके अलगाववाद पर अंकुश लगाया जा सकता है। बिना ऐसा किये भारत की सामाजिक विविधता में शत्रुता का बोलबाला रहेगा और यूनिटी इन डाइवर्सिटी का नारा हास्य पैदा करता रहेगा।

5. लोकतंत्र की सलामती के लिए : अशिक्षा, अज्ञानता, दरिद्रता, रोग-व्याधि में प्रायः विश्व चैंपियन होने के बावजूद भारत अपने लोकतंत्र के कारण विश्व में श्रद्धा की नजर से देखा जाता है। अतः हमें देश में लोकतंत्र को सफल बनाए रखने के लिए सदैव जाग्रत रहना है। जहां तक लोकतंत्र की सफलता का सवाल है दुनिया के तमाम समाज विज्ञानियों का मानना है कि किसी भी देश में लोकतंत्र की सफलता के लिए कुछ विशेष स्थितियों का होना आवश्यक है। जिस हद तक ये स्थितियां पाई जाती हैं, उसी हद तक लोकतंत्र सफल हो सकता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए कुछ लोग नागरिकों के मानसिक व नैतिक गुणों पर जोर देते हैं तो कुछ लोग एक समुचित सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण के महत्व पर बल देते हैं। वैसे इसकी सफलता के लिए सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को गुरुत्व देने वालों की संख्या सर्वाधिक है। सामाजिक आर्थिक स्थिति के विषय में हम कह सकते हैं कि जहां समृद्धि और दरिद्रता की चरम सीमाएं पाई जाती हैं, वहां लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता।

इस आधार पर अगर हम भारत में लोकतंत्र के भविष्य का आंकलन करें तो लोकतंत्र का भविष्य बहुत ही निराशाजनक नजर आएगा। यहां समृद्धि और दरिद्रता की खाई का कोई ओर-छोर नहीं है। यहां उद्योग-व्यापार, मीडिया, फिल्म-टी.वी. इत्यादि

प्रमुख आर्थिक श्रोतों पर दस से पंद्रह प्रतिशत आबादी का 75-80 प्रतिशत कब्जा है। बाकी 85 प्रतिशत आबादी की स्थिति ठीक उसके विपरीत है। बेहिसाब आर्थिक विषमता के कारण इस देश में एक ओर सामंजस्य की वह भावना बड़ी तेजी के साथ नष्ट हो रही है जो कि समाज विज्ञानियों के अनुसार लोकतंत्र की सफलता की सर्वाधिक आवश्यक शर्त है। भारत में लोकतंत्र की सफलता का सर्वाधिक सामान सिर्फ डाइवर्सिटी के अमलीकरण में निहित है। आर्थिक-विषमता के कारण लोकतंत्र के टूट-बिखर जाने की जो भविष्यवाणी राष्ट्र को संविधान समर्पित करते समय बाबा साहेब ने की थी, उससे भी निजात दिला सकती है सिर्फ डाइवर्सिटी।

6. मूलनिवासी महिलाओं की अस्मत् रक्षा के लिए : मूलनिवासी समाज की महिलाओं का यौन शोषण हमारी विस्तृत समस्याओं में एक समस्या है जिसके तार भी अर्थ से जुड़े हैं। यह जानने के लिए किसी अध्ययन पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं कि यौन शोषण की समस्या वहीं है जहां अर्थाभाव है। गांवों में ऐसी त्रासदी उन्हीं के साथ होती है जिन परिवारों की महिलाएं दूसरों के खेत-खलिहान, घरों में काम करने जाती हैं। जाहिर है ऐसी महिलाएं गरीब भूमिहीन परिवारों की होती हैं।

अर्थाभाव के कारण ही भारत की महिलाएं खाड़ी के देशों में जाकर भयावह यौन शोषण का शिकार बन रही हैं। इसके कारण ही विभिन्न सर्वे में देखा जा रहा है कि झुण्ड की झुण्ड नेपाली लड़कियां वेश्यालयों में धकेली जा रही हैं। इसके कारण ही बांग्लादेशी दरिद्र शरणार्थी महिलाएं भारत के ढेरों शहरों में नौकारानी के रूप में यौन दासी की दहलीज पर पहुंचती जा रही हैं। दुनिया भर में सर्वत्र कामकाजी महिलाओं के यौन शोषण की खबरें छप रही हैं, इसके मूल में भी बहुधा आर्थिक कारण ही हैं। लेकिन जो लोग मूलनिवासी समाज की इस समस्या से चिंतित हैं उन्हें इस मामले में अब और दुर्दिन देखने के लिए मानसिक रूप से प्रस्तुत रहने की जरूरत है। अब तक जहां दबंग लोगों की यौन क्षुधा की शिकार सामान्यतया गरीब भूमिहीन शूद्रातिशूद्र समाज की महिलाएं ही होती रही हैं वहीं अब आने वाले दिनों में इसका असर आज के खाते-पीते मूलनिवासी परिवारों पर भी पड़ने जा रहा है, जिसके मूल में होगा भूमंडलीकरण।

भूमंडलीकरण नारियों को यौन दासी बनाने का पहले से कहीं अधिक सामान मुहैया कराने जा रहा है। इस युग में भारत में हम ब्यूटी पार्लरों, मसाज सेन्ट्रों की आड़ में देह व्यापार की घटनाओं का अखबारों और टी.वी. में इतना अधिक साक्षात्कार करते जा रहे हैं कि लगता है कि इसके चपेट में कल पूरा समाज आने जा रहा है। ब्यूटी पार्लर और मसाज सेन्ट्रों की आड़ में देह व्यापार करने वाली अधिकतर सवर्ण समाज की महिलाएं हैं। जब भूमंडलीकरण ने सक्षम सवर्ण समाज के सबसे अग्रसर तबके की महिलाओं को पतित देह व्यापार में उतरने के लिए बाध्य कर दिया है तब दरिद्र मूलनिवासी समाज पर इसका क्या असर पड़ेगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। भविष्य में जिस बात की कल्पना कर पेशानी पर पसीने छूटने लगते हैं उससे इस समाज को बचा सकती

हे सिर्फ डाइवर्सिटी। हिन्दू सम्राज्यवाद में जिस मूलनिवासी समाज की महिलाएं सदियों से यौन दासी बनने के लिए अभिशप्त रही हैं, नव साम्राज्यवाद में इनकी दशा तभी बेहतर हो सकती है जब इस समाज को राष्ट्र की प्रत्येक आर्थिक गतिविधियों में हिस्सेदारी मिले। इसके लिए एक ही उपाय हैं डाइवर्सिटी।

7. हिन्दुओं के अत्याचार से दलितों को बचाने के लिए : भारत की जाति समस्या और दलित उत्पीड़न का चोली-दामन का संपर्क है, यह सत्य भारत से लेकर संयुक्त राष्ट्र-संघ के तमाम देशों तक ने स्वीकार कर लिया है। जब-जब दलितों पर अत्याचार की घटनाएं घटती हैं, देश-विदेश के सभी लोग हिन्दू विवेक को झकझोरने का अभियान नये सिरे से शुरू करते हैं।

लेकिन हिन्दुओं के विवेक को झकझोरने का अभियान मध्ययुग के संतों से लेकर आधुनिक भारत के राष्ट्रपिता एवं एक से एक महान साहित्यकारों तक ने चलाया। फिर भी चकवाड़ा, बेलछी, कुम्हेर, झञ्झूर, गोहाना, खैरलांजी इत्यादि कांड होते रहे हैं। यही नहीं हिंदू समाज की विवेकशून्यता से आजिज आकर कोटि-कोटि स्वाभिमानी मानबेरों ने जहां हिंदू समाज से संपर्क विच्छेद कर इस्लाम, सिक्ख, ईसाई और बौद्ध धर्म से नाता जोड़ लिया वहीं असंख्य मानकेतर योद्धाओं ने भारत की सेनाओं को पराजित करने में अंभों का बढ़-चढ़कर सहयोग किया। किंतु अपने समाज की टूटन और देश की पराधीनता से हिंदू साम्राज्यवादियों ने कोई सबक नहीं लिया; प्रधानता दिया मात्र अस्पृश्यों को धिक्कृत व दंडित करने में। ऐसे में दलित जब तक अस्पृश्य हैं, सवर्ण हिंदुओं की उग्रता झेलने के लिए अभिशप्त हैं। उधर दलितों की अस्पृश्यतामोचन के लिए धर्मांतरण के सिवाय कोई रास्ता भी हिंदू धर्म में नहीं है। यद्यपि कहा गया है हिंदू शास्त्रों के तंत्र-मंत्र, यज्ञ और देवी-देवताओं के आशीर्वच से मृत जीवित हो सकता है, अंधा देख सकता है, गूंगा बोल सकता है, पंगु गिरी लांघ सकता है, बंध्या संतानवती हो सकती है; पर, दलितों की अस्पृश्यता दूरीकरण का कोई शास्त्रसम्मत उपाय नहीं है। और अस्पृश्यता मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, तब यह मान कर ही आगे की रणनीति तय करनी होगी कि मनुष्यैतरो को हिंदू पराक्रम से बचाने का भी कोई उपाय नहीं है।

लेकिन जो हिंदू समाज अस्पृश्यों के विरुद्ध बराबर आक्रामणात्मक रहता है उसकी एक विराट मनोवैज्ञानिक कमजोरी भी है। यह समाज सुदूर अतीत से ही सख्त का भक्त है। अपनी इस कमजोरी के कारण वह हाथी, भालू, बाघ, सिंह, बैल जैसे शक्तिशाली जानवरों के साथ-साथ गाय, बंदर, सुअर, सांप, चूहा इत्यादि तक में देवी-देवताओं को आरोपित कर पूजा करता रहा है। इसी कारण वह विदेशागत लोगों का अनुग्रह जय करने के लिए बराबर दास सुलभ आचरण करता रहा है और आज भी कर रहा है। अपनी इस स्वभावगत कमजोरी के कारण ही मनुष्यैतरों में पद प्रतिष्ठाप्राप्त सक्षम लोगों के साथ बन्धुत्वपूर्ण व्यवहार करने में कोताही नहीं बरतता। अतः दलितों को आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाकर, हिंदू समाज को समानता व बंधुत्वपूर्ण व्यवहार के लिए विवश किया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि अस्पृश्यतामोचन के दूसरे रास्ते पर राष्ट्र मुस्तैद हो।

जिस अस्पृश्यता के कारण दलित दुनिया के सबसे घृणित मनुष्य प्राणी के रूप में देखे जाते हैं, वह व्यापक अर्थों में 'बहिष्कार' है। यह बहिष्कार मात्र सार्वजनिक स्थलों के उपयोग तक सीमित नहीं है। कर्म संकरता की निषेधाज्ञा के तहत दलितों को सदियों से देश के संसाधनों और उच्चमान के तमाम लाभकारी पेशों से बहिष्कृत व वंचित करके रखा गया है। अवश्य ही भारतीय राज्य के हस्तक्षेप से कुछ हद तक इनका बहिष्कार दूर हुआ है। लेकिन व्यवसाय, उद्योग, मीडिया, संस्थाओं व दूसरे तमाम सांस्कृतिक श्रोतों से दलित अभी भी पूरी तरह बहिष्कृत (अछूत) हैं। यदि इन क्षेत्रों से इनकी अस्पृश्यता दूर कर दी जाय तो निश्चय ही दीन-हीन बहिष्कृत समाज सक्षम हो उठेगा। वैसे में सख्त का भक्त हिंदू समाज दलितों को मान-सम्मान देने के लिए स्वतः ही आगे आएगा।

8. सच्चर समिति की रिपोर्ट से उभरी हताशा से राष्ट्र को निजात दिलाने के लिए : पिछले दिनों प्रकाश में आई सच्चर समिति की रिपोर्ट ने राष्ट्र को सकते में डाल दिया। इस राष्ट्र में व्याप्त भयावह आर्थिक विषमता का रूप उस रिपोर्ट के आइने में देख देशप्रेमियों में निराशा घर कर गई। ऐसे में जबरदस्त आर्थिक विषमता का शिकार बनी मुस्लिम आबादी के लिए अधिकांश बुद्धिजीवियों और नेताओं ने आंख मुंद कर दलित-पिछड़ों के लिए जारी आरक्षण में कुछ हिस्सा आरक्षित करने का सुझाव दिया। लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर में संकुचित होती नौकरियों की संख्या में कुछ हिस्सा दे देने से मुस्लिम समाज को भले ही कुछ मनोवैज्ञानिक सुरक्षा मिल जाय, पर उनकी आर्थिक बदहाली दूर नहीं हो सकती। दूर हो सकती है सिर्फ डाइवर्सिटी नीति के अमलीकरण से। राष्ट्र यदि डाइवर्सिटी लागू करवाकर मुस्लिमों को उनकी संख्यानुपात में सरकारी व गैर सरकारी क्षेत्र की नौकरियों के साथ सप्लाई, डीलरशिप, ठेकों इत्यादि सभी आर्थिक गतिविधियों में अवसर सुलभ करा सके, तभी यह समाज आर्थिक विषमता की गहरी खाई से निकल पायेगा।

9. सवर्णों को आरक्षण दिलाने के लिए—चूंकि भारत का इतिहास ही सवर्णों और मूलनिवासियों के मध्य आरक्षण पर केन्द्रित संघर्ष का इतिहास है, इसलिए यह दोनों समय-समय पर इस मुद्दे पर भिड़ते रहे हैं। आरक्षण पर संघर्ष का बोलबाला मंडलोत्तर काल में कुछ ज्यादा ही रहा और पहल कदम सवर्णों ने किया। सबसे पहले मंडल की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद सवर्णों ने आत्मदाह से लेकर राष्ट्र की सम्पदा दाह का कार्य किया। परवर्तीकाल में मंडल की आग ठण्डी होने के बाद वे अपने लिए बेहद उग्र रूप में आरक्षण की मांग उठाने लगे। इसके लिए उन्होंने कई प्रान्तों में एकाधिक बार परशुराम का फरसा उठ जाने और देश में खून की नदियां बहा देने की धमकी दिया। उनकी उग्र मांग देखकर कई सवर्ण और दलित-पिछड़े नेता अपने चुनावी मैनिफेस्टो में गरीब सवर्णों के लिए आरक्षण देने का वायदा करने लगे। पर यह मामला आज भी अनिर्णित है और सवर्ण आरक्षण के लिए भीतर ही भीतर उबल रहे हैं। इससे कभी भी विस्फोटक स्थिति पैदा हो सकती है। इस स्थिति से उबार सकती है, सिर्फ डाइवर्सिटी। यदि भारत में डाइवर्सिटी लागू होती है, तो अनु-

जाति/जनजाति, पिछड़े और धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों की भांति ही सवर्णों को 15 प्रतिशत अवसर विभिन्न क्षेत्रों में निर्दिष्ट हो जायेगा। ऐसे में मुमकिन है कि सवर्ण आरक्षण के लिए देश में खून की नदियां बहाने का इरादा छोड़ दें। डाइवर्सिटी लागू होने पर सवर्णों को आरक्षण देने का कांशीराम का सपना भी पूरा हो जायेगा।

10. बहुजन समाज बनाने के लिए : इस बात को बार-बार दोहराना विरक्ति पैदा करेगी फिर भी कहना पड़ रहा है कि इस देश की संपदा-संसाधनों पर चिरस्थायी कब्जा कायम रखने के लिए ही हिन्दू साम्राज्यवादियों ने हिन्दू-धर्म उर्फ वर्ण-धर्म के रास्ते वर्ण-व्यवस्था की स्थापना की; मूलनिवासी कभी संगठित होकर संपदा-संसाधनों पर पुनः कब्जा न जमा लें इसलिए ही उन्होंने इसमें सामाजिक विच्छिन्नता के सूत्रों को इस तरह पिरोया कि मूलनिवासी 6000 कलहरत समाजों में बंट कर रह गये; विशाल वंचित समाज में तब्दील न हो सके। हिन्दू मनीषियों द्वारा खड़ी की गई इस समस्या ने बौद्धोत्तर भारत में पहली बार गहराई से उद्वेलित किया सामाजिक परिवर्तन के पितामह फुले को। उन्होंने कलहरत जातियों को भ्रातृत्व के बन्धन में पिरोने के लिए इतिहास को मथ कर 'मूलनिवासीवाद' का मंत्र दिया। इस मंत्र को व्यावहारिक रूप दिया पहली बार पेरियार ने। उन्होंने मूलनिवासीवाद का शंखनाद कर दक्षिण भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंका। परवर्तीकाल में इस मंत्र का और प्रभावी प्रयोग मा. कांशीराम ने किया। वे इस मंत्र का प्रयोग कर भारत के इतिहास में भ्रातृत्व के सबसे बड़े प्रसारक बन गये। उनके मूलनिवासीवाद से पहली बार शत्रुता से लबरेज 6000 जातियां शत्रुता की दीवार लांघकर भ्रातृत्व भाव लिये बहुजन समाज में तब्दील होना शुरू हुईं। इससे जमीनी स्तर पर हिन्दू साम्राज्यवादियों का सत्ता में दखल कम हुआ। पर, बहुजन समाज बनाने में बेहद कारगर मूलनिवासीवाद अब पहले जैसा प्रभावी नहीं हो रहा है। इसका मतलब बहुजन समाज बनाने का अब और कोई आधार नहीं रहा? ज्योतिबा फुले ने 'मूलनिवासीवाद' के साथ एक और विचार 'आरक्षण' का दिया था। लोग समझते हैं आरक्षण सिर्फ वर्ण-व्यवस्था के वंचितों को आर्थिक अवसर पैदा करने का यंत्र है। इसका आर्थिक असर तो है ही लेकिन उससे भी बढ़कर यह वंचितों को जोड़ता है।

दरअसल आरक्षण सदियों की शोषित जातियों को संगठित करता है, यह सत्य समाजशास्त्रियों की दृष्टि से अगोचर ही रहा है। आरक्षण किस तरह जन्मजात शोषितों को जोड़ता है, यह असंख्य भांगों में बंटी अनुसूचित जाति/जनजातियों के मनोविज्ञान के आधार पर समझ लेना चाहिए था। देश के आरक्षित वर्ग, विशेषकर अनुसूचित जातियां हिन्दुओं द्वारा घृणित व्यवहार पाने के अभ्यस्त होकर भी, हिन्दू शास्त्रों में आस्था के कारण अपने से कथित निम्न अवस्थान में पड़ी जातियों से हिन्दुओं की भांति ही घृणा करती हैं। अस्पृश्य रूप में गण्य दूसरी जातियों से रोटी-बेटी का संबंध स्थापित करने में हिन्दुओं की भांति ही गुरेज करती हैं। लेकिन यही कलहरत अछूत जातियां जब तब आरक्षण के सवाल पर संगठित होकर विशाल दलित समाज में तब्दील हो जाती हैं। पर, वंचितों को एकीकृत करने में आरक्षण की जिस प्रभावकारिता से भारत के समाजशास्त्री अनजान रहे, उसने मण्डल की रपट प्रकाशित होने के बाद अपना रंग दिखाया। दलित-पिछड़ों की एकता और उनके

जाति चेतना के राजनीतिकरण का लम्बवत् विकास हुआ, जिससे आर्यावर्त की राजनीति में काफी हद तक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। अर्थात् हिन्दू साम्राज्यवादी सत्ता की पकड़ काफी हद तक ढीली हुई।

बहरहाल मण्डल के माध्यम से आरक्षण के विस्तारलाभ और उसके विस्तार में मूलनिवासी दलित-पिछड़ों की एकता की संभावना देखकर ही मण्डल की सिफारिशों की घोषणा के साथ संघ परिवार (हिन्दू साम्राज्यवादियों का मुख्य संगठन) ने मोर्चा संभाल लिया। उसने रणनीति के तौर पर इस्तेमाल किया धर्म का वह अमोघ अस्त्र, जिससे घायल होकर सदियों से दलित-पिछड़े एक-दूसरे के शत्रु; नर-पशु व मानवेतर बने रहे हैं। हां, उसने मुस्लिम विद्वेष का भी प्रसार समान रूप से किया और दुनिया जानती है कि यह टोटका कई हजार समाजों में बटे हिंदुओं को कुछ समय के लिए एकीकृत करने में बड़ा असरकारी होता है। इन फॉर्मूलों से बहुजनों की जातीय चेतना का मुकाबला धार्मिक चेतना के राजनीतिकरण से करने में सफलता मिल गई। इस सफलता से उत्साहित होकर संघ परिवार आने वाले कई सालों तक इसी फॉर्मूले पर काम करने का मन बना चुका है। यह बात और है कि इस फॉर्मूले के कारण अब तक कई हजार करोड़ की संपदा और असंख्य लोगों की प्राणहानि हो चुकी है। लेकिन आरक्षण के खात्मे के लिए संघ परिवार एक ही फॉर्मूले पर निर्भर नहीं रहा। इस फॉर्मूले से मिली सत्ता का लाभ उठाकर स्वयंसेवकों ने देश की सुरक्षा तक से जुड़े सार्वजनिक उपक्रमों को बेचना शुरू कर दिया। राष्ट्रवादी स्वयंसेवकों की भाँति ही सवर्णों की बी टीम गांधीवादी कांग्रेस आज बहुत चालाकी से उसी रास्ते का अनुगमन कर रही है। हालांकि सवर्णों की 'ए' और 'बी' टीमों को अच्छी तरह मालूम है कि उनकी आर्थिक नीतियों के कारण देश आर्थिक रूप से विदेशियों का गुलाम हो जाएगा। फिर भी अपनी नीतियों पर दृढ़ रहे या हैं तो इसलिए कि इससे आरक्षण असरहीन हो जाएगा। अर्थात् बहुजन समाज की एकता का अन्यतम आधार ही कमजोर पड़ने लगेगा।

बहुजनों में एकता स्थापित करने में आरक्षण सक्षम है, यह तथ्य न समझ पाने के लिए समाजशास्त्रियों पर करुणा होनी चाहिए। एकता स्थापित करने में आरक्षण सक्षम है यह तो मंडलोत्तर भारत की परिस्थितियों ने आंख में अंगुली करके दिखा दिया, इससे भी बड़ा आधार यह है कि हिंदू साम्राज्यवादियों की आधुनिक पीढ़ी पूना पैक्ट के जमाने से ही यह कहकर आरक्षण का विरोध करती रही है कि आरक्षण से समाज टूटता है। जिनकी स्मरण शक्ति कमजोर है वे 8 अप्रैल 2006 को मानव संसाधन विकास मंत्री द्वारा आईआईएम और आईआईटी में प्रस्तावित आरक्षण के बाद उद्भव हुए मंडल-2 पर सवर्णों की प्रतिक्रिया को याद करें। सवर्णों के बच्चों ने मंडल-2 में नए प्रस्तावित आरक्षण का विरोध मेरिट के आधार पर तो किया ही, साथ ही बार-बार कहा कि इससे समाज बटेगा। चूंकि हिंदू साम्राज्यवादी और मूलनिवासी दो विपरीत ध्रुव हैं इसलिए इनके द्वारा एक-दूसरे पर की गई प्रतिक्रिया के विलोम अर्थ में ही सच्चाई को पाया जा सकता है। जो चीज इनमें एक के लिए जहर है वही दूसरों के लिए अमृत। इसलिए अगर हिंदू कहते हैं कि आरक्षण से समाज टूटता है तो इसका मतलब सही

में यह हुआ कि इससे मूलनिवासी समाज जुड़ता है।

यह भी गौर करने की बात है कि जिन हिंदुओं का देश की संपदा-संसाधनों पर प्रायः 75 से 80% प्रभुत्व है वे नौकरियों में आरक्षण का विरोध कर क्यों विवेकशून्य मनुष्य प्राणी कहलाने का आरोप मोल लेने जाएंगे। इसका कारण सिर्फ यही है कि आरक्षण से असंख्य भागों में बंटे मूलनिवासी एक-दूसरे के करीब आते हैं। इसलिए इस एकता के आधार को खत्म करने के लिए ही हिंदू शासक पार्टियां औने-पौने दामों में सरकारी उपक्रमों को बेच रही हैं।

बहरहाल आरक्षण क्यों मूलनिवासियों को जोड़ता है, यह सवाल पाठकों के मन में आ सकता है। इसका कारण सार्वदेशिक है और वह यह है कि विभिन्न विरोधी समुदाय के लोगों का संघ तभी बनता है जब उस संघ का ऐसा कोई कॉमन एजेंडा हो जो उसमें शामिल सभी समुदायों के लोगों का कुछ न कुछ स्वार्थ रक्षा करता हो। जिस संघ में विभिन्न रुचि के लोगों को संतुष्ट करने लायक जितना प्रभावी एजेंडा होता है वह संघ उतना ही दीर्घायु व विस्तारित होता है। इस लिहाज से शत्रुता से लबरेज मूलनिवासियों के कामन इंटरैस्ट की रक्षा करने वाला अब तक का सबसे प्रभावी एजेंडा आरक्षण रहा है। और जब मात्र नौकरियों में हिस्सेदारी दिलाने वाला आंबेडकरी आरक्षण कलहरत मूलनिवासियों को जोड़ सकता है तो सर्वत्र आरक्षण या हिस्सेदारी सुलभ कराने वाली डाइवर्सिटी लोगों को जोड़ने के मोर्चे पर क्या कमाल दिखा सकती है इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है।

इस पुस्तक की पिछली पंक्तियों में नौकरियों, डीलरशीप, सप्लाई, ठेकों, फिल्म. टी.वी. प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इत्यादि में डाइवर्सिटी का जो आयाम दिखाया है उससे स्पष्ट है कि मूलनिवासियों की आर्थिक भागीदारी व विकास का जो सूत्र डाइवर्सिटी में दिया गया है वैसा व्यापक बदलाव का कार्यक्रम इनके लिए आज तक नहीं आया है। अतः भूमंडलीकरण के युग में जो आरक्षण लगभग निष्प्रभावी हो गया है उसे बचाने के लिए अगर आरक्षित वर्ग एकजुट होकर जान देने को तैयार है तब अगर हर क्षेत्र में ही आरक्षण अर्थात् भागीदारी का मार्ग प्रशस्त करने वाली डाइवर्सिटी का प्रस्ताव रखा जाय तो वह निश्चय ही आपसी शत्रुता भुलाकर, भ्रातृत्व भाव लिए बहुजन में तब्दील होगा। सर्वव्यापी आरक्षण वाली डाइवर्सिटी दलित पिछड़ों ही नहीं अल्पसंख्यक को भी करीब लाकर विशाल बहुजन समाज से जोड़ देगी।

वैसे भी 15 प्रतिशत हिन्दू साम्राज्यवादियों के कब्जे से डाइवर्सिटी के रास्ते सम्पदा-संसाधनों में हिस्सेदारी पाने की पूर्व शर्त ही है कि वंचितों को आपसी भेदभाव भूलकर बन्धुतापूर्ण बहुजन समाज में तब्दील होना होगा। विच्छिन्न रह कर वंचित बहुजन शक्तिशाली साम्राज्यवादियों से कुछ भी हासिल नहीं कर सकते।

बहुजन समाज बनाने के मोर्चे पर 'डाइवर्सिटी' अब तक इसलिए अपेक्षित परिणाम नहीं दिखा पाई कि इसके प्रचार-प्रसार में महज अंगुलियों पर गिने जाने लायक चन्द दलित बुद्धिजीवी ही लगे रहे हैं। बहुजन समाज के अधिकांश लेखक-बुद्धिजीवी, सामाजिक कार्यकर्ता या तो चुपचाप तमाशा देखते रहे या

डाइवर्सिटी अभियान चलाने वालों की आलोचना करते रहे। लेकिन मंडल-2 के दिनों में 18 अप्रैल 2006 से जब से प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने भारतीय उद्योग परिसंघ के समक्ष अमेरिका के डाइवर्सिटी पैटर्न पर निजी क्षेत्र में आरक्षण का सुझाव रखा है तब से स्थितियां बदल रही हैं। ऐसे में उम्मीद है कि डाइवर्सिटी के रास्ते बहुजन समाज बनने की प्रक्रिया तेज होगी।

देश के कारोबार में डाइवर्सिटी लागू करवाने का यह अभियान उस आदि भारत मुक्ति का अभियान है जिसे साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व पराधीन बनाकर विदेशागत लोगों ने हिन्दू आरक्षण उर्फ वर्ण-व्यवस्था के हथियार के सहारे मूलनिवासियों (शूद्रातिशूद्रों और उनसे धर्मान्तरित लोगों) को संपदा-संसाधनों और उच्च मान के लाभकारी पेशों के साथ मानवीय मर्यादाओं से वंचित कर शिक्षाहीन, भूमिहीन, उद्योग-व्यापारहीन बना दिया। इस अभियान को सफल बनाकर ही हम दे सकते हैं सच्ची श्रद्धांजलि फुले, शाहुजी, पेरियार, डॉ. आंबेडकर और कांशीराम को जिन्होंने दुनिया को जन्मगत आधार पर सृष्ट आर्थिक विषमताओं के दूरीकरण का अमोघ अस्त्र मुहैया कराया। अगर हम इस अभियान में विफल रहते हैं तो हिन्दू आरक्षणवादी भूमण्डलीकरण को हथियार बनाकर आरक्षित वर्ग को आंबेडकरी आरक्षण लागू होने की पूर्व दशा में ठेल देंगे। इस अभियान में शामिल होकर मूलनिवासी उसी तरह अपने जीवन को सार्थक बना सकेंगे जैसे 1947 के पूर्व वर्षों में ब्रितानी साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष कर स्वाधीनता संग्रामियों ने अपने जीवन को धन्य बनाया। मूलनिवासियों के इस मुक्ति संग्राम में सवर्णों को सीधे योगदान करने का अवसर नहीं रहेगा। पर अमेरिकी दलितों की मुक्ति के लिए अमेरिका के विवेकवान गोरों ने अपने विवेकहीन भाइयों के खिलाफ अभियान छेड़कर जिस तरह अपने जीवन को सार्थक बनाया उसी तरह का कार्य करके भारत का विवेकवान प्रभुवर्ग भी अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

जय भीम

जय भारत

जय मूल निवासी
एच.एल. दुसाध

मानव-जाति की बड़ी समस्याएं : विविधता की अनदेखी का परिणाम

हम इक्कीसवीं सदी में वास कर रहे हैं, जहां मानव सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष पर नजर आ रही है। इस समय हम जहां अंतरिक्ष में बस्तियां बसाने की परिकल्पना में मशगूल हैं, वहीं हम दुनिया की दूरी मिटा विश्व-ग्राम की परिकल्पना को मूर्त रूप दे रहे हैं। हमने प्रकृति की प्रतिकूलता पर जय पाने के साथ ही तरह-तरह की बीमारियों पर भी काबू पा लिया है। किन्तु तमाम तरह की उपलब्धियों के बावजूद दावा नहीं किया जा सकता कि मानव-जाति पूरी तरह से समस्यामुक्त हो चुकी है। हम कई तरह के संकटों से जूझ रहे हैं जिसके लिए खासतौर से जिम्मेवार है मानव जाति में विविधताओं को सम्मान देने के पर्याप्त सद्गुणों का अभाव।

सभ्यताओं का टकराव : धार्मिक व सांस्कृतिक विविधताओं में व्याप्त शत्रुता का परिणाम

सैमुएल पी. हंटिंगटन ने 1992 में 'अमेरिकन इंटरप्राइज इंस्टिट्यूट' में पहली बार व्यक्त किये गए अपने विचार को विस्तार देते हुए जब 1996 में 'द क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन एंड रिमेकिंग ऑफ वर्ल्ड वार' नामक पुस्तक निकाली तो दुनिया एक नए आसन्न संकट से सकेते में आ गयी। उन्होंने उस पुस्तक में दावा किया कि विचारधाराओं के युग का अवसान हो चुका है। ऐसे में भावी विश्व-युद्ध का बुनियादी कारण विचारधारा और आर्थिक नहीं, सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान होगी। सांस्कृतिक साम्यता वाले राष्ट्र अपना-अपना समूह बना कर विरुद्ध पहचान वाले राष्ट्रों से युद्ध करेंगे। हालांकि उनकी उस थीसिस को दुनिया के जाने-माने कई चिंतकों, जिनमें अमर्त्य सेन भी हैं, ने नकार दिया था, बावजूद इसके सभ्यताओं के टकराव का भय हमारे मन के किसी कोने में बैठ गया है तो उसके पीछे कुछ कारण हैं जो इतिहास और सामाजिक मनोविज्ञान के पन्नों में दर्ज हैं।

प्रत्येक संस्कृति का एक मानदंड होता है जिसके अनुपालन के फलस्वरूप व्यक्ति अन्य नृजातीय समूहों के प्रति पूर्वाग्रह विकसित कर लेता है। समाज विज्ञानियों ने इसका खुलासा करते हुए कहा है कि 'प्रत्येक संस्कृति अपनी नई पीढ़ी को अन्य समूहों के प्रति कुछ विश्वासों, स्थिराकृतियों तथा मनोवृत्तियों एवं आचरणों को अपनाने की शिक्षा देती है। इस प्रकार पूर्वाग्रह और कुछ नहीं अपितु सांस्कृतिक विरासत तथा लोकाचार का एक अंश है।' सांस्कृतिक विरासत तथा लोकाचार से पनपा

पूर्वाग्रह व्यक्ति व समूहों में दूसरे धर्मों और संस्कृतियों के प्रति कभी-कभी शत्रुता की हद तक अनादर का भाव पैदा कर देता है। धार्मिक व सांस्कृतिक विविधता में व्याप्त इस शत्रुता के कारण ही दुनिया में बेहिसाब खून बहा। इस कारण ही दुनिया के कई देशों से कई धर्म विलुप्त हो गए। अगर डॉ आंबेडकर के अनुसार भारत का इतिहास हिंदू और बौद्ध धर्म के संघर्ष का इतिहास है तो उसके पीछे धार्मिक विविधता में व्याप्त शत्रुता ही है। धार्मिक विविधता में व्याप्त शत्रुता मानवता के लिए कितनी घातक हो सकती है इसका बड़ा प्रमाण 1095 में येरुशलम की भूमि पर इस्लाम और ईसाईयत के मध्य अनुष्ठित धर्मयुद्ध (Crusade) है। 'काफिरों' के हाथों से 'पवित्र भूमि' के उद्धार के जूनून में डेढ़ सौ सालों से ज्यादा चले उस धर्मयुद्ध में जो खून बहा उसका वर्णन इतिहास के पन्नों में पढ़कर रूह कांप जाती है। सदियों से धार्मिक विविधता में व्याप्त इस शत्रुता के खात्मे का साधु-संतों और समाज सुधारकों द्वारा काफी प्रयास भी हुए, पर अपेक्षित परिणाम अब तक भी सामने नहीं आया है। सांस्कृतिक विरासत और लोकाचार से उपजी इस शत्रुता के कारण भारत सहित विश्व के अन्यान्य देशों में रह-रहकर सांप्रदायिक दंगों का सैलाब पैदा होता रहता है। बहरहाल साम्प्रदायिकता तथा कट्टरता को देश के एकीकरण तथा एकता एवं एक समान, न्यायपूर्ण लोकतांत्रिक समाज के मार्ग में बाधक मानते हुए दुनिया के असंख्य लेखक, समाजसेवी इत्यादि जो इसके खिलाफ अनवरत अभियान चलाये जा रहे हैं, उससे हम हंटिंगटन की भविष्यवाणी के विफल होने के प्रति काफी हद तक आश्वस्त हो सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक पर्यावरण को लेकर जिन खतरों के प्रति आगाह कर रहे हैं उससे उबरने प्रति आश्वस्त होना कठिन लग रहा है।

ग्लोबल वार्मिंग : मानव-जाति के समक्ष नई चुनौती

पर्यावरण वैज्ञानिकों द्वारा जलवायु परिवर्तनजनित समस्याओं से आगाह किये जाने के बाद अगर पृथ्वीवासी किसी चीज को लेकर सबसे अधिक चिंतित हैं तो वह है ग्लोबल वार्मिंग। इस बात का इल्म हर किसी को हो चुका है कि इसके कारण बर्फ की चोटियां पिघलने लगेंगी जिससे समुद्र का जलस्तर बढ़ जाएगा और तटीय शहर जलमग्न हो जाएंगे। पर 'ग्लोबल वार्मिंग' का दुष्परिणाम यहीं तक सीमित नहीं है। इससे वर्षा ऋतु में बदलाव आएगा, जिससे कृषि प्रभावित होगी तथा बाढ़ व भूस्खलन के परिणामस्वरूप लोगों का स्थान्तरण होगा जो आवास समस्या पर प्रतिकूल असर डालेगा। इसके द्वारा तापमान में वृद्धि से असंख्य जीव विलुप्त हो जायेंगे। किन्तु अन्धाधुन औद्योगीकरण की होड़ में हमने प्राकृतिक संसाधनों का जो शोषण किया उसके फलस्वरूप वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण जैसी और कई समस्याओं को जन्म देने के साथ ही जैव-विविधता पर विराट संकट खड़ा हो गया है।

पर्यावरण और संपोषित विकास

1980 के शेष वर्षों में जब दुनिया भर के वैज्ञानिकों में यह यकीन पुख्ता हो गया कि विकास के नाम पर जो मानव क्रियाएं हो रही हैं, उससे वैश्विक स्तर पर 'जलवायु परिवर्तन' और 'वैश्विक ताप' अर्थात् 'ग्लोबल वार्मिंग' के खतरे बढ़ेंगे, तब अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में संपोषित विकास (Sustainable Development) की अवधारणा का जन्म हुआ। संपोषित विकास का अवधारणा के रूप में विकास सबसे पहले 1957 में ब्रंटलैंड रिपोर्ट के प्रकाशन के साथ हुआ। इसमें कहा गया था, 'संपोषित विकास सामंजस्य में स्थायित्व लाना नहीं है, अपितु यह एक नए परिवर्तन की प्रक्रिया है जिसमें संसाधनों का दोहन, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास की स्थिति तथा संस्थात्मक परिवर्तनों को वर्तमान के साथ-साथ भावी समय की आवश्यकताओं के भी अनुकूल बनाया जा सके।' जब अंधाधुन विकास के चलते पर्यावरण की स्थिति बिगड़ी उस पर सुझाव देते हुए उसमें कहा गया था, 'विकास तो हो पर संसाधनों अथवा पर्यावरण को क्षति पहुंचाए तथा लोगों एवं विश्व के भविष्य को खतरे में डाले बिना।'

पर्यावरण की रक्षा के लिए लामबंद हुआ अंतर्राष्ट्रीय जगत

ब्रंटलैंड रिपोर्ट के प्रकाशित होने के पांच वर्ष बाद 1992 में ब्राजील के रियो- द- जेनेरो में पर्यावरण संरक्षण तथा सामाजिक-आर्थिक विकास से सम्बंधित मुद्दे पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मलेन, जिसे 'पृथ्वी सम्मलेन' भी कहा जाता है हुआ, जिसमें 150 के करीब सरकारों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया एवं जिसमें 'जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी संस्थागत समझौते' तथा 'जैविक विविधता संबंधी समझौते' पर हस्ताक्षर हुए। फिर तो विकास और पर्यावरण के मुद्दे पर ऐसे सम्मेलनों का सिलसिला ही शुरू हो गया जो आज भी जारी है एवं जिनका एक ही उद्देश्य है-विश्व का पोषणकारी विकास, जो सिर्फ पर्यावरण संरक्षण से ही संभव है।

इन सम्मेलनों में अब तक पर्यावरण संरक्षण के लिए जल-मृदा-ध्वनि और औद्योगिक प्रदूषण पर नियंत्रण के साथ ज्यादा जोर जैव-विविधता की रक्षा की कार्ययोजना पर रहा है।

जैविक विविधता (Bio-diversity) पर खास चिंता

1992 के रियो सम्मलेन के बाद से ही विश्वभर में पौधों और पशुओं की असंख्य प्रजातियों को बचाने की चिंता शुरू हुई। कारण, लोगों ने महसूस करना शुरू किया कि मनुष्य के लिए जीव विभिन्नता बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि हम इसके द्वारा निर्मित अन्य वनस्पति तथा पशुओं की प्रजातियों पर निर्भर हैं। इनसे ऑक्सीजन का निर्माण, कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा को कम करना, जलचक्र का नियमन तथा मृदा संरक्षण जैसी पर्यावरणिक सेवाएं भी मिलती हैं। भोजन, औषधियों तथा सभी प्राकृतिक उत्पादों का जीव मंडल में विद्यमान विभिन्न प्रजातियों से प्रत्यक्ष

या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध है। आदिवासी समुदाय का जीवन तो मुख्य रूप से प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर है। शहरी लोग भी प्रकृति से प्राप्त उत्पादों का प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। पर मानव विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली जैव-विविधता को मनुष्य ही क्षति पहुंचाए जा रहा है और क्षति पहुंचाने का यह सिलसिला कायम रहा तो 2050 तक 10 करोड़ प्रजातियां विलुप्त हो जाएंगी। विभिन्न प्रजातियों की विलुप्ति के भयावह सिलसिले को ध्यान में रखते हुए रियो सम्मेलन से जैव-विविधता की रक्षा के लिए तरह-तरह के कानून बनाने से लेकर जागरूकता फैलाने का जो क्रम शुरू हुआ वह आज एक आन्दोलन का रूप ले चुका है, जिससे भारत भी अछूता नहीं है।

जैविक विविधता के लिए घातक : हिंदू धर्म-संस्कृति

बेशक आज भारत भी जैव-विविधता की रक्षा में बढ़-चढ़कर योगदान कर रहा है, पर हिंदू धर्म-संस्कृति सदियों से इस पर कहर बरपाती रही है, जो आज भी जारी है। प्राचीन भारत में वैदिक आर्य यज्ञ के नाम पर अंधाधुन पशुबलि करते रहे जिसके खिलाफ गौतम बुद्ध को अहिंसा का आन्दोलन चलाना पड़ा। अगर बुद्ध वह आन्दोलन नहीं चलाये होते तो अब तक यज्ञ की बलि-वेदी पर ही असंख्य प्रकार के पशु-पक्षी और पेड़-पौधे स्वाहा हो गए होते। किन्तु बलि-प्रथा से विरत होने के बावजूद हिंदुओं द्वारा शवदाह जारी रहा और इस प्रक्रिया में पेड़-पौधों की क्षति होती रही। यही नहीं वे सदियों से कृष्ट रोग व अन्य कई बीमारियों से मरने वाले इंसानों और पशुओं को नदी-नालों में प्रवाहित करते रहे हैं। औद्योगिक क्रांति के पूर्व पर्यावरण को सर्वाधिक क्षति हिंदू धर्म-संस्कृति के अभिन्न अंग शवदाह और शव-प्रवाह प्रथा से हुई। यह सिलसिला आज भी कायम है। राहत की बात है कि विद्युत शवदाह धीरे-धीरे चलन में आ रहा है।

भारत में जैव-विविधता का संकट

बहरहाल आकड़ों के अनुसार, भारत विश्व का 12वां सबसे बड़ा जैविक विविधता संपन्न देश है। यहां 45,000 जंगली तथा 77,000 जंगली जानवरों की प्रजातियां हैं, जो मात्रा में विश्व का 6.5 प्रतिशत है। पर्यावरण विज्ञानियों के अनुमान के मुताबिक पिछले कुछ दशकों में भारत में लगभग 50 प्रतिशत वन काटे जा चुके हैं, 75 प्रतिशत जल के स्रोत दूषित हो चुके हैं एवं घास-भूमि तथा समुद्र तटों का हास हो चुका है। इसके अतिरिक्त शिकार, कीटनाशकों द्वारा विपाकितकरण तथा अन्य मानव क्रियाओं के कारण जैव-विविधता को काफी क्षति पहुंची है। किन्तु भारत में पर्यावरणिक सिस्टम को बनाये रखने, हजारों-करोड़ों लोगों जैसे-कृषक, मछुआरों आदि की आजीविका को आधार प्रदान करने, औषधि व स्वास्थ्य सेवा संस्थानों को कच्चा माल सुलभ कराने तथा वैज्ञानिक, औद्योगिक व दूसरे क्षेत्रों में अनुसन्धान चलाने के लिए जैविक विविधता का बने रहना परमावश्यक है। भारी राहत की

बात है कि लंबे समय तक जैव-विविधता की व्यापक व महत्वपूर्ण भूमिका की अनदेखी करने वाले भारत के योजनाकारों और समाजसेवियों ने अंततः कला-फैशन-साहित्य, फिल्म-टीवी, ज्ञान-विज्ञान की भांति ही पश्चिम से पर्यावरण सुरक्षा की सीख लेकर जैविक विविधता को बचाने की मुहिम छेड़ दी है। यही कारण है जहां सरकारें पर्यावरण मंत्रालय बनाकर तरह-तरह की योजनाओं पर काम कर रही हैं, वहीं अनगिनत गैर-सरकारी संगठन वृक्षारोपन करने व जनजागृति फैलाने के साथ सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों की उन परियोजनाओं के खिलाफ जनांदोलन चला रहे हैं, जो पर्यावरण और जैव-विविधता के लिए क्षतिकर हैं। सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्र के ये प्रयास आश्वस्त करते हैं कि हम देश में पर्यावरणिक खतरे को सुदीर्घ काल तक टालने में सफल रहेंगे।

मानव-जाति की सबसे बड़ी समस्या : आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी

बहरहाल हंटिंगटनपंथी सभ्यताओं के टकराव की जितनी भी भयावह तस्वीर पेश करें और पर्यावरणवादी ग्लोबल वार्मिंग की तबाही का जितना भी डरावना का खाका खींचे, ये मानव जाति की सबसे बड़ी समस्या के रूप में चिन्हित नहीं हो सकतीं। हजारों सालों से लेकर आज तक निर्विवाद रूप से 'आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी' ही मानव जाति की समस्या रही है। यही वह सबसे बड़ी समस्या है जिससे मानव-जाति को निजात दिलाने के लिए ई. पू. काल में भारत में गौतम बुद्ध, चीन में मो-त्ती, इरान में मज्दक, तिब्बत में मुने-चुने पांग; रेनेसां उत्तरकाल में पश्चिम में हॉब्स-लाक, रूसो, वाल्टेयर, टॉमस स्पेन्स, विलियम गाडविन, सेंट साइमन, फुरिये, प्रूथो, चार्ल्स हॉल, रॉबर्ट आवेन, अब्राहम लिंकन, मार्क्स, लेनिन तथा एशिया में माओत्से तुंग, हो ची मिन्ह, फुले, शाहूजी महाराज, पेरियार, डॉ. आंबेडकर, लोहिया, काशीराम इत्यादि जैसे ढेरों महामानवों का उदय तथा भूरि-भूरि साहित्य का सृजन हुआ एवं लाखों-करोड़ों लोगों ने प्राण बलिदान किये। इसे लेकर ही आज भी दुनिया के विभिन्न कोनों में छोटा-बड़ा आन्दोलन/संघर्ष जारी है।

आर्थिक और सामाजिक विषमता कारण : शक्ति के स्रोतों में सामाजिक और लैंगिक विविधता का असमान प्रतिबिम्बन

बहरहाल पूरी दुनिया में आर्थिक और सामाजिक विषमता की उत्पत्ति समाज में शक्ति के स्रोतों का विभिन्न सामाजिक समूहों और उनकी महिलाओं के मध्य असमान बंटवारे से होती रही है। ध्यान देने की बात है कि सदियों से ही समाज जाति, नस्ल, लिंग, भाषा इत्यादि के आधार पर कई समूहों में बंटा रहा है, मार्क्सवादियों के अनुसार सिर्फ आमिर-गरीब में नहीं। जहां तक शक्ति का सवाल है, सदियों से समाज में इसके तीन प्रमुख स्रोत रहे हैं-आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक। शक्ति के ये स्रोत जिस समूह के हाथों में जितना ही संकेंद्रित रहे, वह उतना ही शक्तिशाली, विपरीत इसके जो जितना ही इनसे दूर व वंचित रहा, वह उतना दुर्बल व अशक्त

रहा। सदियों से समतामूलक समाज निर्माण के लिए जारी संघर्ष और कुछ नहीं, शक्ति के स्रोतों में वंचित तबकों को उनका प्राप्य दिलाना ही रहा है।

समताकामियों द्वारा धार्मिक-शक्ति की उपेक्षा

जहां तक शक्ति का प्रश्न है सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई लड़ने वाले तमाम चिंतक, विशेषकर मार्क्सवादी धार्मिक-शक्ति की बुरी तरह उपेक्षा करते रहे हैं। यह डॉ. आंबेडकर थे जिन्होंने इसकी अहमियत को समझा और साबित किया कि धर्म भी शक्ति का स्रोत होता है और धन-सम्पत्ति की तुलना में 'धर्म' की शक्ति अधिक नहीं, तो किसी प्रकार कम भी नहीं। वास्तव में धर्म का मनुष्य के हृदय पर शासन रहने के कारण यह समाज में शक्ति का एक विराट केन्द्र रहा है। चूंकि हर धर्म के अनुयायियों का लक्ष्य लौकिक-पारलौकिक सुख के लिए ईश्वर-कृपा लाभ करना रहा है और पोप-पुरोहित-मौलवी ईश्वर और भक्तों के बीच मध्यस्थ का रोल निभाते रहे हैं इसलिए धार्मिक-शक्ति का लाभ ये ही उठाते रहे हैं। धार्मिक शक्ति से लेश होने के कारण ही प्राचीन रोमन गणराज्य में प्लेबीयन बहुसंख्यक होकर भी अल्पजन पैट्रिशियनों के समक्ष लाचार बने रहे। इस कारण ही भारत के ब्राह्मण तो साक्षात् 'भूदेवता' ही बन गए और समाज में इतनी शक्ति अर्जित कर ली कि 70 वर्ष का क्षत्रिय भी दस वर्ष के ब्राह्मण बालक तक के समक्ष सर झुकाने के लिए बाध्य रहा। इन्होंने देवालयों में इतनी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी कि विदेशी लुटेरे खुद को भारत पर हमला करने से न रोक सके। इस शक्ति से समृद्ध मध्ययुग के यूरोप में पोप-पुजारियों की जीवनशैली वहां के राजे-महाराजाओं के लिए भी इर्ष्या की वस्तु बन गई थी। इस शक्ति से पूरी दुनिया की महिलाएं और भारत के दलित-पिछड़ों जैसे कई सामाजिक समूहों को पूरी तरह दूर रखा गया। धार्मिक शक्ति का महत्त्व इक्कीसवीं सदी में कम हो गया है, ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता।

सामाजिक-आर्थिक विषमता के खात्मे के लिए : शक्ति के केन्द्रों में सामाजिक और लैंगिक विविधता का प्रतिबिम्बन

यह सही है कि हजारों वर्षों से दुनिया के हर देश का शासक-वर्ग ही कानून (धर्माधारित) बना कर शक्ति का वितरण करता रहा है, पर यदि हम यह जानने की कोशिश करें कि सारी दुनिया के शासक जमातों ने अपनी स्वार्थपरता के तहत कौन सा रास्ता अख्तियार कर सामाजिक और आर्थिक विषमता को जन्म दिया; शक्ति का असमान वितरण किया तो हमें विश्वमय एक विचित्र एकरूपता का दर्शन होता है। हम पाते हैं कि सभी ने शक्ति के केन्द्रों में सामाजिक (Social) और लैंगिक (Gender) विविधता (Diversity) का असमान प्रतिबिम्बन करा कर ही मानव जाति की सबसे बड़ी समस्या को जन्म दिया। अगर हर जगह शक्ति के स्रोतों का बंटवारा विभिन्न तबकों और उनकी महिलाओं की संख्यानुपात में किया गया होता तो क्या दुनिया में आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी की स्थिति पैदा होती? यह मानव-जाति

का बड़ा दुर्भाग्य है कि समाज परिवर्तन का महान रूपकार मार्क्स इस तथ्य की उसी तरह अनदेखी कर गया, जैसा कि उसने नीग्रो-स्लेवरी के मामले में किया।

शक्ति के असमान बंटवारे से पैदा हुआ : क्रांतियों का सैलाब

बहरहाल प्राचीन काल से लेकर आधुनिक विश्व के उदय के पूर्व तक सर्वत्र ही सामाजिक और लैंगिक विविधता की अनदेखी हुई तो इसलिए कि राजतंत्रीय व्यवस्था के दैविक अधिकार (Divine right) सम्पन्न शासक वर्गों में 'जीओ और जीने दो' की भावना ही विकसित नहीं हुई थी। विभिन्न तबकों और उनकी महिलाओं को शक्ति में शेयर देना उनकी सोच से परे था। धर्माधिकारियों के प्रचंड प्रभाव से दैविक गुलाम (Divine slave) में परिणत वंचित तबकों के स्त्री-पुरुषों में भी शक्ति-भोग की आकांक्षा पैदा नहीं हुई थी। किन्तु बहुत देर से ही सही, 1096 में नारमंडी के राजा विलियम ने स्व-हित में सामंतों का अधिकार संकुचित करने के लिए जब 'ओथ सालिसबरी' के रास्ते जन साधारण से सहयोग मांगा, वह मानव जाति के इतिहास की एक युगांतरकारी घटना साबित हुई। तब कृषक बहुजन ने सामंतों के बजाय सीधे राजा के प्रति अपनी वफादारी की शपथ ली और विनिमय में राजा ने उन्हें शक्ति के केंद्रों में कुछ हिस्सेदारी देने का वादा किया। राजा के साथ सशर्त समझौते से जनसाधारण ने शक्ति (अधिकार) का जो स्वाद चखा वह राजतंत्रीय-व्यवस्था के लिए काल साबित हुआ। इससे वंचितों में अधिकाधिक शक्ति-भोग की लालसा तीव्रतर होती गयी जो 1215 में 'मैग्नाकार्टा' (स्वाधीनता का पहला मुक्ति-पत्र) अर्जित करते हुए 1689 में 'बिल ऑफ राइट्स' हासिल करने के बाद ही कुछ शांत हुई। मैग्नाकार्टा से बिल ऑफ राइट्स अर्जित करने तक, सुदीर्घ पांच सौ वर्षों का अंग्रेज बहुजन के संग्राम का पथ कांटों भरा रहा। इस दौरान हॉब्स, लॉक जैसे बुद्धिजीवियों ने लोगों में शक्ति-अर्जन की भूख बढ़ाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। परिणामस्वरूप वंचितों को शक्ति के स्रोतों से जोड़ने के लिए फ्रांस, अमेरिका, रूस, चीन सहित दुनिया के अन्यान्य देशों में क्रांतियों का सैलाब उठा। इनसे प्रेरणा लेकर आज भी आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी के खात्मे का संघर्ष दुनिया के विभिन्न अंचलों में जारी है।

शक्ति-वितरण के लिए : लोकतांत्रिक व्यवस्था

बहरहाल ब्रितानी जनगण ने पांच सौ सालों तक अधिकार अर्जन के लिए खुद को जो बार-बार गृह-युद्ध में झोंका उससे प्रेरणा लेकर दूसरे देशों के वंचितों ने सिर्फ क्रांतियों का सैलाब ही पैदा नहीं किया, बल्कि शक्ति के सम्यक बंटवारे के लिए उन्होंने राजतंत्रीय-व्यवस्था को पलट कर जो गणतांत्रिक-व्यवस्था दी उसका भी नकल किया। यही कारण है दुनिया के सारे देशों में एक-एक करके राजतंत्र का ध्वंस और लोकतंत्र की स्थापना होते गया। लोकतंत्र के धीरे-धीरे परिपक्व होने के साथ बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों ने उपलब्धि की

कि तमाम तबकों और महिलाओं के मध्य शक्ति का न्यायोचित बंटवारा किये बिना लोकतंत्र को सलामत नहीं रखा जा सकता। ऐसे में उन्होंने समस्त आर्थिक गतिविधियों, शिक्षण संस्थाओं, फिल्म-मीडिया, राजनीति की समस्त संस्थाओं इत्यादि में सामाजिक और लैंगिक विविधता अर्थात् 'जिसकी जितनी संख्या भारी-उसकी उतनी भागीदारी' लागू करने का उपक्रम चलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि दुनिया भर में महिलाओं, नस्लीय भेदभाव के शिकार अश्वेतों इत्यादि विभिन्न वंचित समूहों को लोकतांत्रिक देशों में शक्ति में शेयर मिलने लगा। ऐसा होने पर उन देशों में आर्थिक-सामाजिक विषमता के खाल्मे और लोकतंत्र के सुदृढीकरण की प्रक्रिया तेज हुई। शक्ति के स्रोतों में सामाजिक और लैंगिक विविधता के रास्ते विषमता की समस्या से निपटने में जिन देशों ने उल्लेखनीय सफलता अर्जित की उनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं कनाडा, अमेरिका, यूरोपीय देश, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, मलेशिया और सबसे बढ़कर दक्षिण अफ्रीका।

विविधता नीति के सहारे विषमता के खाल्मे का सर्वोत्तम मिसाल : दक्षिण अफ्रीका

दक्षिण अफ्रीका भारत की तरह ही विविधतामय देश है, जहां 79.6 प्रतिशत मूलनिवासी कालों, 9.1 प्रतिशत गोरों, 8.9 प्रतिशत कलर्ड और 2.5 प्रतिशत एशियाई व अन्य श्रेणी का वास है। नेल्सन मंडेला के सत्ता में आने के पूर्व वहां गोरों ने सामाजिक विविधता की भयावह अनदेखी करते हुए शक्ति के स्रोतों पर 80-85 प्रतिशत कब्जा जमा रखा था। मंडेला के सत्ता में आने के बाद जब वहां लोकतंत्र स्थापित हुआ, सरकार ने संविधान में सामाजिक विविधता लागू करने का प्रावधान सुनिश्चित किया। परिणामस्वरूप वहां के चारों प्रमुख सामाजिक समूहों के मध्य संख्यानुपात में समस्त आर्थिक गतिविधियों, राजनीतिक संस्थाओं इत्यादि में भागीदारी का मार्ग प्रशस्त हुआ। इससे वहां जिन गोरों का शक्ति स्रोतों पर 80-85 प्रतिशत कब्जा था, वे 9-10 प्रतिशत पर सिमटने के लिए बाध्य हुए। ऐसे में उनके हिस्से की 70-75 प्रतिशत सरप्लस शक्ति शेष वंचित समूहों में बंटनी शुरू हो गयी। अब गोरों की निहायत ही लोकतंत्र विरोधी नीति के चलते भयंकर आर्थिक और सामाजिक विषमता की खाई में फंसा दक्षिण अफ्रीका तेजी से इससे उबरने की राह पर चल पड़ा है। उल्लेखनीय है कि आज संख्यानुपात में सिमटने के कारण गोरों दक्षिण अफ्रीका छोड़ कर भागने लगे हैं।

भारत में सामाजिक और लैंगिक विविधता का प्रतीकात्मक प्रदर्शन

भारत समाज असंख्य जातियों और धार्मिक समुदायों से गठित है। इसे कुछ सामान्य विशेषताओं के आधार पर चार मुख्य सामाजिक समूहों-(1) सवर्ण, (2) ओबीसी, (3) एससी/एसटी और (4) धार्मिक अल्पसंख्यक- में वर्गीकृत किया गया है। यह वर्गीकरण ही भारत की सामाजिक विविधता है। अगर आजाद भारत के शासकों

की मंसा सही होती तो वे इन चारों समूहों और उनकी महिलाओं के संख्यानुपात में आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र के अवसरों का बंटवारा कराते। इसके लिए वे उन देशों से प्रेरणा लेते, जिनसे लोकतंत्र का प्राथमिक पाठ पढ़ा है। लेकिन हर बात में विदेशियों की नकल करने वाले हमारे शासक वर्ग ने विविधता नीति का अनुसरण करने में पूरी तरह परहेज रखा। हालांकि यह कहना ज्यादाती होगी कि बिलकुल ही प्रेरणा नहीं लिया। लिया मगर प्रतीकात्मक, जैसे मौजूदा संग्रग सरकार में महिला राष्ट्रपति, मुस्लिम उप- राष्ट्रपति, अल्पसंख्यक प्रधानमंत्री, दलित स्पीकर और आदिवासी डीप्टी स्पीकर बनाया गया है। उच्च पदों पर सामाजिक-लैंगिक विविधता के ऐसे सतही प्रतिबिम्बन को हमारे बुद्धिजीवी भारतीय लोकतंत्र की मजबूती का सूचक मान कर खूब खुश होते रहे हैं। स्वाधीन भारत की तमाम सरकारें भी ऐसा ड्रामा करके ही अपने लोकतंत्र पर गर्वित होती रहीं, पर शक्ति के असल केन्द्रों में विविधता के प्रतिबिम्बन से परहेज किया। परिणामस्वरूप विश्व में सर्वाधिक गैर-बराबरी का साम्राज्य भारत में कायम हुआ।

यहां के विशेषाधिकार युक्त चिरसुविधाभोगी 15 प्रतिशत अल्पजनों का शक्ति स्रोतों पर लगभग 80-85 प्रतिशत कब्जा है। विविधता की अनदेखी के कारण ही हम महिला सशक्तीकरण के मोर्चे पर बांग्लादेश जैसे पिछड़े राष्ट्र से भी पिछड़े हैं। इस कारण ही सच्चर रिपोर्ट में उभरी मुस्लिम समुदाय की बदहाली ने राष्ट्र को सकते में डाल दिया है। इस कारण ही एससी/एसटी और ओबीसी की उद्योग-व्यापार, फिल्म-मीडिया में नगण्य तो देवालियों में शून्य भागीदारी है। इतनी गैर-बराबरी किसी भी देश में क्रांति को आमंत्रण दे देती, लेकिन भारत में वैसा कुछ नहीं हो रहा है तो क्यों, इसका खुलासा कोई समाज-मनोविज्ञानी ही कर सकता है। पर, ऐसा नहीं कि इसका कोई असर ही नहीं हो रहा है। हो रहा है, तभी तो विषमता से पीड़ित एक तबके ने 2050 तक बन्दूक के बल पर लोकतंत्र के मंदिर पर कब्जा जमा लेने की खुली घोषणा कर दी है। पर क्या हमारा शासक वर्ग इससे परेशान है? बहरहाल अगर गैर-बराबरी के दुष्परिणामों को जानते हुए भी शासक वर्ग सामाजिक और लैंगिक विविधता की बुरी तरह उपेक्षा किये जा रहा है तो उसके पृष्ठ में क्रियाशील है वर्णवादी मानसिकता।

सामाजिक और लैंगिक विविधता की सबसे बड़ी दुश्मन : वर्ण-व्यवस्था

हमारे शासकों की सामाजिक-लैंगिक विविधता विरोधी मानसिकता का सम्बन्ध उस वर्ण-व्यवस्था से है, जिसे उनके महान आदर्श विवेकानंद ने मानव-जाति को ईश्वर-प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार कहा है। महात्मा गांधी जैसे राष्ट्रपिता और इ एस नम्बूदरीपाद जैसे महान मार्क्सवादी भी विवेकानंद की भांति वर्ण-व्यवस्था की प्रशंसा में पंचमुख रहे। पर, आर्यों द्वारा प्रवर्तित वर्ण-व्यवस्था दुनिया की ऐसी पहली व अनुपम सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें किसी देश की बहुसंख्यक आबादी को शक्ति (आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक) में एक कतरा भी न देने की चिरस्थाई व्यवस्था की गयी। यह दुनिया

की पहली व्यवस्था थी जिसमें किसी समाज को चार भागों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रातिशूद्र) में बांटकर एक अपरिवर्तनीय सामाजिक विविधता को जन्म दिया गया। इसमें अध्ययन-अध्यापन, पौरोहित्य, राज्य-संचालन, सैन्य-वृत्ति, भूस्वामित्व, व्यवसाय-वाणिज्य इत्यादि के सारे अवसर जन्मसूत्र से सिर्फ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों से युक्त सवर्ण-पुरुषों के लिए आरक्षित रहे। इसके प्रवर्तकों ने खुद स्व-वर्ण की महिलाओं तक को शक्ति के केन्द्रों में स्वतन्त्र भागीदारी नहीं दिया। उन्होंने शूद्रातिशूद्रों को आर्थिक-राजनीतिक के साथ धार्मिक शक्ति से पूरी तरह दूर कर दी। धार्मिक स्रोतों से दूर रखने के लिए जहां शूद्रातिशूद्रों को तीन उच्चतर वर्णों(सवर्णों) की निष्काम सेवा में मोक्ष संधान करने का कानून बनाया, वहीं सभी स्त्रियों को पति-चरणों में स्वर्ग ढूढ़ने का प्रावधान दिया। शूद्रातिशूद्रों और नारियों के लिए किसी भी किस्म की शक्ति का भोग अधर्म था। इस व्यवस्था द्वारा पूरी तरह शक्तिहीन बने शूद्रातिशूद्रों के लिए अच्छा नाम तक रखना वर्जित रहा। चूंकि वर्ण-व्यवस्था ईश्वरकृत रूप में प्रचारित रही इसलिए सवर्ण शक्ति के स्रोतों का भोग अपना दैविक-अधिकार मानने की मानसिकता से पुष्ट रहे। विपरीत इसके दैविक-गुलाम बने शूद्रातिशूद्र और महिलाएं खुद को पूरी तरह शक्ति के अनाधिकारी समझते रहे। वर्ण-व्यवस्था के कानूनों के तहत शक्ति के बंटवारे का कार्य आईपीसी (भारतीय दंड संहिता), जिसके तहत बौद्धोत्तर भारत में पहली बार कानून की नजरों में एकबराबर किया गया, के लागू होने के एक दिन पूर्व तक चलता रहा। पर आईपीसी भी शक्ति के स्रोतों को सवर्णों के चंगुल से मुक्त कराने में आंशिक रूप से ही सफल हो पाई। इसलिए आजाद भारत को विरासत में जहां भयावह आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी मिली, वहीं दुर्भाग्य से सत्ता की बागडोर उन्हीं लोगों के हाथ में आई जो शक्ति के सभी स्रोतों पर पूर्णरूपेण कब्जा रखना अपना दैविक-अधिकार मानते रहे।

स्वाधीन भारत के सुपर-स्टार नेता: लोकतंत्र-विरोधी

संविधान निर्माता बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर को स्वाधीन भारत के शासकों की मानसिकता का अहसास था। इसलिए उन्होंने संविधान सौंपने के पूर्व राष्ट्र को सावधान करते हुए कहा था कि हमें निकटतम समय के मध्य आर्थिक और सामाजिक विषमता का खात्मा कर लेना होगा, नहीं तो विषमता से पीड़ित जनता लोकतंत्र के परखचे उड़ा देगी। लेकिन पंडित नेहरू, इंदिरा गांधी, राजीव गांधी, ज्योति बसु, अटल बिहारी वाजपेयी, जय प्रकाश नारायण जैसे राजनीति के सुपर-स्टार तक भी लोकतंत्र की सलामती की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठा सके। फलतः विषमता की खाई बढ़ती और बढ़ती गयी। हालात यहां तक पहुंच गये कि 2009 में विषमता से पीड़ित एक तबके द्वारा 2050 तक लोकतंत्र के मंदिर पर बंदूक के जोर पर कब्जा जमाने का ऐलान कर दिया गया। यदि लोकतंत्र की सलामती की कसौटी पर इन बड़े नेताओं की भूमिका का सही तरह से आंकलन किया जाय तो वे लोकतंत्र विरोधी ही नजर आयेंगे।

बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का उदय

स्वाधीन भारत के शासकों की लोकतंत्र-विरोधी नीतियों के चलते आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी का जो बेइंतहा विस्तार हुआ उसके खात्मे के लिए गांधीवादी, मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी, लोहियावादी और आंबेडकरवादी विचारधारा से जुड़े ढेरों राजनीतिक व सामाजिक संगठन 'समतामूलक समाज की स्थापना', सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति', 'सामाजिक विषमता का खात्मा' जैसे आकर्षक नारों के साथ वजूद में आये, पर लक्ष्य से दूर रहे। इसका खास कारण यह रहा कि सामाजिक और आर्थिक विषमता की उत्पत्ति का सुस्पष्ट चित्र उनके पास नहीं था। इसलिए वे टुकड़ों-टुकड़ों में शक्ति अर्जन की लड़ाई लड़ते रहे। कोई भूमि में बंटवारे की तो कोई मजदूरी बढ़वाने की; कोई दलितों के लिए तो कोई पिछड़ों के लिए; कोई मुसलमानों की तो कोई महिलाओं के हितों की लड़ाई लड़ता रहा। आज की तारीख में कोई पिछड़ों और मुसलमानों को नौकरियों में तो कोई महिलाओं को राजनीति में आरक्षण दिलाने की लड़ाई लड़ रहा है। इनमें किसी के पास भी ऐसा प्रोग्राम नहीं रहा जिससे मानव-जाति की सबसे बड़ी समस्या का मुकम्मल हल; लोकतंत्र का सुदृढ़ीकरण तथा सभी समुदायों का समान सशक्तीकरण किया जा सके। ऐसी स्थिति में ही 15 मार्च, 2007 को हम कुछ आम्बेडकरवादी लेखक-एक्टिविस्टों ने मिलकर 'बहुजन डाइवर्सिटी मिशन' की स्थापना की। चूंकि मिशन से जुड़े लोगों का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी ही मानव-जाति की सबसे बड़ी समस्या है तथा शक्ति के स्रोतों का विभिन्न तबकों और महिलाओं के मध्य असमान बंटवारे से ही सारी दुनिया सहित भारत में भी इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए ही हमने शक्ति के सभी स्रोतों में सामाजिक और लैंगिक विविधता का प्रतिबिम्बन कराने की कार्ययोजना बनायी। ऐसे में मिशन के तरफ से निम्न क्षेत्रों में सामाजिक और लैंगिक विविधता का प्रतिबिम्बन कराने अर्थात् विविधतामय भारत के चार सामाजिक समूहों-सवर्ण, ओबीसी, एससी/एसटी और धार्मिक अल्पसंख्यकों-के स्त्री-पुरुषों की संख्यानुपात में अवसरों के बंटवारे की निम्न दस सूत्रीय कर्मसूची स्थिर की।

1. सेना व न्यायालयों सहित सरकारी और निजी क्षेत्र की सभी स्तर की, सभी प्रकार की नौकरियों व धार्मिक प्रतिष्ठानों;
2. सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा दी जाने वाली सभी वस्तुओं की डीलरशिप;
3. सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा की जाने वाली सभी वस्तुओं की खरीददारी;
4. सड़क-भवन निर्माण इत्यादि के ठेकों, पार्किंग, परिवहन;
5. सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा चलाये जाने वाले छोटे-बड़े स्कूलों, विश्वविद्यालयों, तकनीकी-व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं के संचालन, प्रवेश व अध्यापन;
6. सरकारी और निजी क्षेत्रों द्वारा अपनी नीतियों, उत्पादित वस्तुओं इत्यादि के विज्ञापन के मद में खर्च की जाने वाली धनराशि;
7. देश-विदेश की संस्थाओं द्वारा गैर-सरकारी संस्थाओं (एनजीओ) को दी

- जाने वाली धनराशि;
8. प्रिंट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया एवं फिल्म-टीवी के सभी प्रभागों;
 9. रेल-राष्ट्रीय मार्गों की खाली पड़ी भूमि सहित तमाम सरकारी और मठों की खली पड़ी जमीन व्यावसायिक इस्तेमाल के लिए अस्पृश्य-आदिवासियों में वितरित हो एवं
 10. ग्राम-पंचायत, शहरी निकाय, संसद-विधासभा की सीटों राज्य एवं केन्द्र की कैबिनेट; विभिन्न मंत्रालयों के कार्यालयों; विधान परिषद-राज्यसभा; राष्ट्रपति, राज्यपाल एवं प्रधानमंत्री व मुख्यमंत्री के कार्यालयों इत्यादि।

आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी के खात्मे के मुक्कमल सूत्रों से लैस: बीडीएम का दस सूत्रीय एजेंडा

अगर विभिन्न तबकों और उनकी महिलाओं के मध्य शक्ति के स्रोतों का असमान बंटवारा ही आर्थिक और सामाजिक विषमता की सृष्टि का मूल कारण है तो बीडीएम के दस सूत्रीय एजेंडे उसके निवारण में पूरी तरह सक्षम हैं। इनमें एक वैश्विक अपील है। इसे लागू कर किसी भी देश में समतामूलक समाज की स्थापना की जा सकती है। जहां तक भारत का सवाल है यहां विषमता इसलिए है क्योंकि 15 प्रतिशत सवर्णों का शक्ति के तमाम स्रोतों पर 80-85 प्रतिशत वर्चस्व है। 15 प्रतिशत कहना ज्यादाती होगी, क्योंकि इसमें उनकी महिलाओं की भागीदारी अति न्यून है। ऐसे में कहा जा सकता है कि बमुश्किल 8-9 प्रतिशत विशेषाधिकारयुक्त लोगों का ही शक्ति केन्द्रों पर दक्षिण अफ्रीका के गोरों की भांति ही 80-85 प्रतिशत कब्जा है। देश के योजनाकारों की बहुत बड़ी कमी रही कि इस विषमताकारी वर्चस्व को नियंत्रित किये बिना, वे वंचित समुदायों की बेहतरी की योजनाएं बनाते रहे। यह योजनाएं भी हिस्सेदारीमूलक नहीं, बहुधा राहतकारी। बहरहाल बीडीएम का दस सूत्रीय एजेंडा लागू होने पर 80-85 प्रतिशत कब्जा जमाने लोग अपनी संख्यानुपात पर सिमटने के लिए बाध्य होंगे, जैसे दक्षिण अफ्रीका के गोरें हुए। ऐसा होने पर उनके हिस्से की अतिरिक्त (Surplus) शक्ति के बाकी तीन वंचित समुदायों के मध्य बंटने के दरवाजे स्वतः खुल जायेंगे। शक्ति के उपरोक्त केन्द्रों में सामाजिक और लैंगिक विविधता लागू होने पर सवर्ण, ओबीसी, एससी/एसटी और धार्मिक-अल्पसंख्यकों के मध्य व्याप्त विषमता का धीरे-धीरे विलोप हो जाएगा। बीडीएम के दस सूत्रीय एजेंडे के लागू होने से आर्थिक और सामाजिक विषमता का तो खात्मा होगा ही, राष्ट्र दूसरी समस्याओं से भी उबरने में सक्षम हो उठेगा।

भ्रष्टाचार को कम करने के लिए : डाइवर्सिटी

भ्रष्टाचार पर काबू पाने के लिए इन दिनों जन लोकपाल विधेयक तैयार करने की कवायद चल रही है जिसका जोर भ्रष्टाचार के स्रोतों को बंद करने के बजाय भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाहों के विरुद्ध कार्रवाई करने पर ज्यादा है। पर भ्रष्टाचार की

व्याप्ति सर्वव्यापी है। चपरासी, बाबू, फिल्म स्टार से लेकर सीटी बैंक घोटालेबाजों, किडनी चोरों और इच्छाधारी बाबाओं तक यह फैला हुआ है। बहरहाल जिस जन लोकपाल विधेयक को भ्रष्टाचार के विरुद्ध कारगर हथियार मानकर बहुत से लोग काफी आशावादी हो चले हैं वह विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नामों से लागू ओम्बड्समैन का ही भारतीय संस्करण है। ट्रान्सपेरेंसी इंटरनेशनल की रिपोर्ट से पता चलता है कि विदेशों में, जहां भारत से कहीं ज्यादा नैतिकता है, ओम्बड्समैन भ्रष्टाचार रोकने में विफल साबित हुआ है। यही कारण है कुछ बुद्धिजीवी यह कहने लगे हैं कि बिना सामाजिक, सांस्कृतिक सवालों से टकराये भ्रष्टाचारविहीन समाज का रास्ता खोलना सम्भव नहीं है। बहरहाल आज की तारीख में जहां भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए तरह-तरह के सुझाव सामने आ रहे हैं वहां इस दिशा में विविधता (Diversity) सिद्धांत लागू करना कारगर साबित हो सकता है

डाइवर्सिटी सिद्धांत लागू होने पर शक्ति के सभी केंद्रों में अवसरों का बंटवारा भारत के चार सामाजिक समूहों-सवर्ण, ओबीसी, एससी/एसटी और धार्मिक अल्पसंख्यकों-के स्त्री-पुरुषों के संख्यानुपात में होगा। इससे जिन सवर्णों का उद्योग, व्यापार, मीडिया, मिलिट्री के उच्च पदों, न्यायपालिका, मंत्रालयों के सचिव आदि पदों पर 80-85 प्रतिशत कब्जा है, एवं जहां का भ्रष्टाचार ही राष्ट्र के लिए विराट समस्या बन गया है, वहां वे 7-8 प्रतिशत पर सिमटने के लिए बाध्य होंगे। कारण, उपरोक्त सभी क्षेत्रों में लैंगिक विविधता लागू होने पर सवर्णों के कुल 15 प्रतिशत का आधा हिस्सा उनकी महिलाओं के हिस्से में चला जाएगा। हालांकि सवर्ण महिलाओं में भी नीरा राडिया, बरखा दत्त, जैसी महिलायें हैं जिन्हें अपवाद ही माना जाएगा। सामान्यतया सवर्ण महिलाओं में भी दलित-पिछड़ों की भांति ऐतिहासिक कारणों से आकांक्षा-स्तर और उपलब्धि-अभिप्रेरणा निम्न स्तर की है। इसका आधिक्य सवर्ण पुरुषों में ही है। ऐसे में सवर्ण जब डाइवर्सिटी के रास्ते महज 7-8 प्रतिशत अवसरों तक सिमटने के लिए बाध्य होंगे, तब निश्चय ही भ्रष्टाचार में मात्रात्मक गिरावट आएगी।

भ्रष्टाचार कम करने में डाइवर्सिटी एक और रूप में प्रभावी साबित हो सकती है। वह इस तरह कि जब अपराधियों का संरक्षण व बचाव करने वाली संस्थाओं में सवर्णों की उपस्थिति 80-85 प्रतिशत की जगह महज 7-8 प्रतिशत पर सिमटेगी तब सवर्ण भ्रष्टाचारियों में मनोवैज्ञानिक सुरक्षा की कमी आ जाएगी। इस मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के अभाव में निश्चय ही भ्रष्टाचार में गिरावट आयेगी।

लोकतंत्र की सलामती के लिए : डाइवर्सिटी

25 नवम्बर, 1949 को को संविधान सौंपने के पूर्व बाबा साहेब ने राष्ट्र को सावधान करते हुए कहा था कि “हमें निकटतम समय के मध्य आर्थिक और सामाजिक असमानता दूर कर लेनी होगी, नहीं तो विषमता से पीड़ित जनता लोकतंत्र के ढांचे को विस्फोटित कर सकती हैं।” ऐसे में लोकतंत्र की सलामती को ध्यान में रखते हुए, आजाद भारत के तमाम सरकारों की कर्मसूचियां विभिन्न सामाजिक समूहों

के मध्य शक्ति (आर्थिक- राजनीतिक, धार्मिक) के सम्यक बंटवारे पर केन्द्रित होनी चाहिए थीं। पर विगत 64 सालों में ऐसा नहीं किया गया इसलिए विश्व में सबसे ज्यादा आर्थिक-सामाजिक विषमता भारत में है। विषमता से पीड़ित एक तबके ने 2050 तक बन्दूक के बल पर लोकतन्त्र के मंदिर पर कब्जा जमाने का ऐलान कर दिया है। ऐसी घोषणा देर सबेर दूसरे वंचित समूह भी कर सकते हैं। जाहिर है घोर आर्थिक-सामाजिक विषमता के चलते, कल हमारे लोकतंत्र का ढांचा विस्फोटित भी हो सकता है। किन्तु शक्ति के केंद्रों में सामाजिक और लैंगिक विविधता लागू होने पर शर्तिया तौर पर यह खतरा टल सकता है।

संपूर्ण आजादी की लड़ाई को टालने के लिए : डाइवर्सिटी

हाल के महीनों में अन्ना हजारे द्वारा आजादी की दूसरी लड़ाई के आह्वान ने बहुजनों को संपूर्ण आजादी की लड़ाई के लिए प्रेरित कर दिया है। वे अपनी आजादी को मुकम्मल बनाने के लिए सभी प्रकार की नौकरियों सहित सप्लाई, डीलरशिप, ठेकों, पार्किंग, परिवहन, फिल्म-मीडिया इत्यादि में संख्यानुपात में हिस्सेदारी के लिए कमर कसेंगे। यदि अन्ना का पिद्दी जैसा भ्रष्टाचार का मुद्दा देश में इतना बड़ा आंदोलन पैदा कर सकता है तो बहुजनों की संपूर्ण आजादी के मुद्दे कितनी भयावह स्थिति पैदा कर सकते हैं, इसकी सहज कल्पना कोई भी कर सकता है। इस अप्रिय स्थिति से बचा सकती है, सिर्फ डाइवर्सिटी।

मुक्कमल महिला सशक्तीकरण के लिए : डाइवर्सिटी

सारी दुनिया में सदियों से महिलाओं को शक्ति के सभी केंद्रों से दूर रखकर ही अशक्त बनाया गया। उन्हें मुक्कल रूप से सशक्त सिर्फ शक्ति के सभी केंद्रों में 50 प्रतिशत हिस्सेदारी देकर ही बनाया जा सकता है। और ऐसा तभी हो सकता है जब बीडीएम के पूर्व उल्लिखित दस सूत्रीय एजेण्डे में लैंगिक विविधता लागू हो। शक्ति के सभी केंद्रों में सामाजिक विविधता के साथ लैंगिक विविधता भी लागू करने से महिला सशक्तीकरण के लक्ष्य को शत प्रतिशत हासिल कर सकते हैं।

सच्चर रिपोर्ट में उभरी मुस्लिम समुदाय की बदहाली की तस्वीर को खुशहाली में बदलने के लिए : डाइवर्सिटी

जैसा कि हम बार-बार कह रहे हैं कि शक्ति के केंद्रों का समाज के विभिन्न तबकों और उनकी महिलाओं के मध्य असमान बंटवारे से ही विषमता पैदा होती है। सच्चर रिपोर्ट में उभरी मुस्लिम समाज की बदहाली इसलिए है कि आजाद भारत के काले अंग्रेजों ने उन्हें सुपरिकल्पित तरीके से शक्ति के केंद्रों से दूर रखा। डाइवर्सिटी लागू होने से उनकी बदहाली की तस्वीर खुशहाली में बदल सकती है। उनकी बदहाली दूर करने के लिए डाइवर्सिटी से बेहतर और कोई उपाय नहीं हो सकता।

आरक्षण से उपजते गृहयुद्ध के हालात से निजात पाने के लिए : डाइवर्सिटी

78/ बहुजन डाइवर्सिटी मिशन का घोषणापत्र

आज जाट, गुर्जर, कायस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हर किसी को आरक्षण चाहिए। विभिन्न जातियों में आरक्षण की बढ़ती मांग ने धीरे-धीरे गृह युद्ध के हालात पैदा कर दिये हैं। इससे कभी भी विस्फोटक स्थिति पैदा हो सकती है। डाइवर्सिटी लागू होने पर राष्ट्र इस विस्फोटक हालात से निजात पा जाएगा, इसकी पूरी उम्मीद है।

नक्सलवाद के शमन के लिए : डाइवर्सिटी

बड़े से बड़े अर्थशास्त्री हों या सड़कछाप बुद्धिजीवी, हर कोई मानता है कि नक्सलवाद की जड़ आर्थिक विषमता है। नक्सलवाद को आंतरिक सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा घोषित करने वाली सरकारें भी ऐसा मानकर ही नक्सल प्रभावित इलाकों में करोड़ों-करोड़ों का आर्थिक पैकेज घोषित करती हैं। पर, ये योजनाएं इसलिए विफल हो जाती हैं कि उनमें नक्सलवाद से जुड़े रहे लोगों को अर्थोपार्जन के सभी क्षेत्रों में भागीदारी सुलभ कराने का रत्तीभर भी दम नहीं रहता। डाइवर्सिटी लागू होने पर हर सामाजिक समूह के स्त्री-पुरुषों को उनके संख्यानुपात में, अर्थोपार्जन की हर गतिविधियों में वाजिब हिस्सा मिलेगा। ऐसा होने पर नक्सलवाद धीरे-धीरे खत्म हो जाएगा, ऐसी कल्पना दुविधामुक्त भाव से की जा सकती है।

अस्पृश्यों को हिन्दुओं के अत्याचार से बचाने के लिए : डाइवर्सिटी

जो हिन्दू दलितों पर तरह-तरह का जुल्म करने से जरा भी नहीं हिचकते, उनकी एक मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। वे सख्त का भक्त होते हैं। सख्त का भक्त होते हैं इसलिए बन्दर, भालू, सांप, गदहा, पेड़-पौधा, ईंट-पत्थरों को देवता मानकर पूजते रहते हैं। हिन्दुओं की इस दुर्बलता से ही भारत में 33 करोड़ देवता पैदा हो गये हैं। हिन्दू सख्त का भक्त होते हैं इसलिए विदेशागत शासकों का कृपालाभ पाने के लिए शर्मनाक हद तक समझौते करते रहे। वे सख्त का भक्त हैं इसलिए जो दलित धन-बल, शिक्षा बल इत्यादि से सम्पन्न हैं उनकी मित्रता जीतने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। वे उन्हीं दलितों पर अपना पराक्रम दिखाते हैं जो भूमिहीन, धनहीन और शिक्षाहीन हैं। डाइवर्सिटी लागू होने पर दलित उद्योगपति, व्यापारी, ठेकेदार, अखबार-चैनलों के मालिक बनने लगेंगे। इस तरह डाइवर्सिटी के रास्ते धीरे-धीरे वे शक्तिहीन से शक्तिमान में तब्दील हो जाएंगे। तब जो हिन्दू उन पर अत्याचार करते हैं, वे ही उनकी निकटता पाने के लिए तरह-तरह का उपाय ढूंढने लगेंगे।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को रोकने के लिए : डाइवर्सिटी

भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारतीय कंपनियों की नकल करते हुए अपनी व्यावसायिक गतिविधियों (डीलरशीप, सप्लाय, कर्मचारियों की भर्ती) में डाइवर्सिटी लागू करने से पूरी तरह परहेज करती हैं। जबकि अपने देश में लागू करती हैं। पिछले एक दशक में कई ऐसे मौके आये जब प्राइवेट सेक्टर में आरक्षण का दबाव

सरकारों के तरफ से बनाया गया। तब जहां देशी कंपनियों ने पूरी तरह हाथ उठा दिया, वहीं बहुराष्ट्रियां कंपनियों ने कह दिया कि ऐसा होने पर हम अपना कारोबार समेट कर वापस चले जाएंगे। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पुतले फूंककर उन्हें वापस भगाने की परिकल्पना करने वालों ने कभी उनकी इस दुर्बलता का फायदा उठाने की कोशिश नहीं की। डब्ल्यू.टी.ओ. की शर्तों में बंधे होने के कारण हम उन्हें भारत में कारोबार करने से रोक नहीं सकते पर डाइवर्सिटी की शर्तें थोपने में कोई कानूनी बाधा नहीं है। ऐसी शर्त थोपने पर मुमकिन है कि अपना कारोबार समेट लें। अगर ऐसा होता है तो साम्राज्यवाद विरोधियों की मनमांगी मुरादे पूरी हो जाएगी। लेकिन इस बात की सम्भावना ज्यादा है कि वे डाइवर्सिटी की शर्तें मान जाएगी। ऐसे में डाइवर्सिटी की शर्तें बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भगाने या उनके व्यवसाय को मानवीय चेहरा देने में काफी प्रभावी हो सकती हैं।

विविधता में एकता को सार्थकता प्रदान करने के लिए : डाइवर्सिटी

भारत में विविधता में एकता है, यह बात अंग्रेज इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने आज से लगभग 150 साल पहले कही थी। उनकी उस बात का अन्धानुकरण करते हुए, आज भी भारत के तमाम नेता, लेखक, कवि, प्रोफेसर तोते की तरह रटते रहते हैं, 'भारत की विविधता (Diversity) में एकता (Unity) है।' किन्तु भारत की विविधता में एकता है इससे बड़ा झूठ कुछ हो ही नहीं सकता। भारत की भाषाई, सांस्कृतिक, धार्मिक, क्षेत्रीय, सामाजिक और लैंगिक इत्यादि तमाम विविधताओं पर ठंडे दिमाग से विचार करने पर यहां विविधता में एकता नहीं; शत्रुता, शत्रुता और सिर्फ शत्रुता का बोलबाला नजर आता है। भाषा के आधार पर राज्यों का बंटवारा होने के बावजूद भाषा को लेकर झगड़े होते रहते हैं। धार्मिक विविधता में शत्रुता की व्याप्ति है इसलिए रह-रह कर दंगों का सैलाब उठता रहता है। क्षेत्रीय विविधता में कथित एकता के परखचे उस समय उड़ने लगते हैं, जब समय-समय पर राज ठाकरों का उदय होता है। लैंगिक विविधता में भी सौहार्द का अभाव है, इसका पता स्त्री-लेखन में मिलता है। लेकिन राष्ट्र की जो सबसे बड़ी चिन्ता है, वह सामाजिक विविधता में शत्रुता की पुरअसर व्याप्ति है। सामाजिक विविधता में व्याप्त शत्रुता ने भारत की असंख्य जातियों को शत्रुता से लबरेज अलग-अलग राष्ट्रों में बांट कर रख दिया है। इसके मूल में है वर्ण-व्यवस्था जो मुख्यतः शक्ति (आर्थिक-राजनीतिक-धार्मिक) और सामाजिक मर्यादा की वितरण व्यवस्था रही। इसमें विभिन्न समाजों के मध्य शक्ति और मानवीय मर्यादा का ऐसा असमान बंटवारा हुआ कि सदा के लिए शक्ति का असंतुलन पैदा हो गया जिससे राष्ट्र आज तक उबर नहीं पाया है। शक्ति के इस असंतुलन ने विभिन्न समाजों के बीच चिरस्थायी तौर पर शत्रुता पैदा कर दी है। इसलिए यहां सामाजिक समरसता और भ्रातृत्व दूरवीक्षण यंत्र देखने की चीज बनकर रह गई है। शक्ति के सभी केंद्रों में सामाजिक और लैंगिक विविधता लागू होने पर सदियों से चला आ रहा असंतुलन दूर हो

जाएगा। ऐसा होने पर ही विविधता में एकता होगी। ऐसा जब तक नहीं होता है, तब तक हमें दिल से नहीं, जबरन कहते रहना पड़ेगा, 'हमारी विविधता में एकता है।'।

ब्राह्मणशाही के खात्मे के लिए : डाइवर्सिटी

सामाजिक बदलाव की लड़ाई लड़ने वाले तमाम संगठनों और बुद्धिजीवियों ने धार्मिक गतिविधियों को पूरी तरह नजरअंदाज किया। यह बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर थे जिन्होंने बताया शक्ति के स्रोत के रूप में धर्म का महत्त्व अगर आर्थिक शक्ति से ज्यादा नहीं तो कम भी नहीं। शक्ति के ऐसे महत्वपूर्ण स्रोत पर 3 प्रतिशत जनसंख्या के अधिकारी ब्राह्मणों का शतप्रतिशत कब्जा रहा। इसके कारण ही ब्राह्मण भूदेवता बन गये और उनके दस वर्ष के जाहिल-गंवार बच्चों तक को बड़े से बड़े गैर-ब्राह्मण नेता-विद्वान तक दण्डवत् करने को तत्पर रहे। इस शक्तिशाली स्रोत से पूरी तरह दूर रहने के कारण ही दलित, पिछड़े और महिलाएं लगभग मनुष्येत्तर प्राणी में तब्दील हुईं। इस शक्तिशाली स्रोत के बंटवारे का पहली बार वैचारिक अभियान बीडीएम ने शुरू किया है। अगर पौरोहित्य में सामाजिक और लैंगिक विविधता लागू होती तो जिन ब्राह्मणों का इसमें 100% आधिपत्य है वे 1½ प्रतिशत पर सिमटने के लिए बाध्य होंगे। इससे शर्तिया तौर पर ब्राह्मणशाही का खात्मा हो जाएगा।

सामाजिक प्रदूषण से निर्लिप्त : राजनीतिक पार्टियां

जिस तरह धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता के प्रति अनादर सांप्रदायिक दंगों की लहरें पैदा करता रहा है तथा जैविक-विविधता की अनदेखी प्राकृतिक पर्यावरण के लिए संकट बन गयी है, उसी तरह भारत में शक्ति के स्रोतों में सामाजिक और लैंगिक विविधता की उपेक्षा सदियों से समाज में नाना प्रकार के संकटों को जन्म देती रही है। इस कारण ही कोटि-कोटि शक्तिहीनों ने हिंदू-धर्म का परित्याग कर विशाल धार्मिक-अल्पसंख्यक समुदाय को वजूद में लाया। इस कारण ही अस्पृश्यों ने प्लासी (1757 में जब ब्रितानी साम्राज्य की बुनियाद पड़ी) से लेकर कोरेगांव-युद्ध (1818) में जहां ब्रिटिश साम्राज्य को पूर्णता मिली, तक अंग्रेजों का साथ दिया। आज जबकि भारत एक विश्व आर्थिक महाशक्ति बनने की राह पर है आतंकवाद, क्षेत्रवाद, माओवाद जहां विकास के समक्ष कड़ी चुनौती पेश कर रहे हैं, वहीं दलित-उत्पीड़न, महिला-उत्पीड़न इत्यादि की भरमार के कारण भारत की छवि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक बर्बर व असभ्य मुल्क के रूप में स्थापित हो रही है। इस कारण ही प्रधानमंत्री विषमता के खात्मे के लिए पिछले कुछ वर्षों से देश के अर्थशास्त्रियों से एक सृजनशील सोच की गुहार लगाये जा रहे हैं तथा राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल बदलाव की एक नई क्रांति का आह्वान कर चुकी हैं। इसी तरह दूसरी पार्टियों के नेता भी समय-समय पर विषमता को लेकर छाती पीटते रहते हैं। पर विभिन्न

दलों के तरफ से समय-समय पर पेश की जाने वाली कर्मसूचियों पर नजर दौड़ाने पर साफ दिखता है कि उनके पास या तो शक्ति-वितरण का सही नक्शा नहीं है या वे विषमता के खात्मे के प्रति बिल्कुल ही अनिच्छुक हैं, शायद इच्छाकृत रूप से।

पर्यावरणवादियों से प्रेरणा लेने की जरूरत

अब लाख टके का सवाल है कि जब हमारी राजनीतिक पार्टियां आर्थिक और सामाजिक गैर-बराबरी की भीषणता से चिंतित होने के बावजूद इसके खात्मे की दिशा में कारगर कदम नहीं उठा रहीं हैं तब हम क्या करें? चूंकि इस समस्या की सृष्टि शक्ति के स्रोतों (आर्थिक-राजनीति-धार्मिक) में सामाजिक और लैंगिक विविधता के असमान प्रतिबिम्बन के कारण ही हुई है इसलिए हमें हर हाल में शक्ति के केन्द्रों में इसका प्रतिबिम्बन करने का प्रयास करना होगा। इसके लिए पर्यावरणप्रेमियों से प्रेरणा लेना श्रेयस्कर होगा। पर्यावरणवादी जानते हैं कि जैविक-विविधता की रक्षा किये बगैर पर्यावरण के खतरों से मानव-जाति को नहीं बचाया जा सकता। इसलिए वे वृक्षारोपण करने व जनजागृति फैलाने के साथ ही सरकारी और निजी-क्षेत्र की उन परियोजनाओं का जी-जान से खिलाफत करते हैं जो पर्यावरण और जैव-विविधता के लिए क्षतिकर हैं। भारत के पर्यावरणवादी भी ऐसा करते हैं। उनके प्रयास से करोड़ों-अरबों की ढेरों योजनाएं खटाई में पड़ गई हैं। सरकारों के लिए उनकी मांगों की अनदेखी करना आसान नहीं होता। हम भी यदि भारत से मानव-जाति की समस्या का वजूद मिटाने के प्रति गंभीर हैं तो हमें डाइवर्सिटी के लिए सघन जन जागरण चलाने के साथ ही सरकारी और निजी क्षेत्र की उन नई-पुरानी सभी परियोजनाओं/प्रतिष्ठानों का संगठित विरोध करना होगा जहां सामाजिक और लैंगिक की अनदेखी हो रही है।

□